जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 5 • मई, 2001

With best compliments from :

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

मई, 2001 वर्ष 49 अंक 5 रु. 15.00

विमर्श

9
नन्दकिशोर आचार्य
धर्मानुभूति और शास्त्रानुकूलता

13
रमेशचन्द्र शाह
धार्मिक संवेदना और कवि मानस : बॉदलेर की साखी

17
सुरेश पंडित
हिंसा की जननी : कुंठा और हताशा

•

आवरण
अडिग
एवं
दीपचन्द

अनुभूति

23
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
समाधि : चैतन्य का अनुभव

29
आचार्यश्री तुलसी
साधन-साध्य : एक मीमांसा

32
साध्वी राजीमती
निरतिचार साधना : आराधना

41
कहानी
उषा प्रियंवदा
वापसी

46
कविता
तुलसीरमण की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा पर्व

शीलन

49
मुनि रमेशकुमार
पुण्य मीमांसा

52
बालकथा
सन्तराम वत्स्य
बुद्धू से बुद्धिमान

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'संसार के महान धर्मशिक्षक, जो कुछ उन्हें विरासत में मिला होता है, उससे कुछ भिन्न बात की ही शिक्षा देते हैं। उपनिषदों के ऋषि, गौतम बुद्ध, जरथुस्त्र, सुकरात, ईसा, मुहम्मद, नानक और कबीर इत्यादि अपने जीवन में ही परंपरागत विचारों को अनिवार्य रूप से तोड़ने को बाध्य हुए। जैसे उपनिषदों ने ऋषियों और बुद्ध ने वैदिक कर्मकांड का विरोध किया, जैसे ईसा ने यहूदी धर्मांधता को चुनौती दी, वैसे ही हमें भी धर्म के शाश्वत तत्त्वों की, रूप और गठन अथवा बाह्य प्रवृत्तियों से, जो मानव की दुर्बलता एवं काल की विकृतियों से उत्पन्न होती हैं, रक्षा करनी पड़ेगी। जो धर्म हमारे युग की आवश्यकताओं और मांगों के अनुरूप सृजनात्मक अभिव्यक्ति की शक्ति खो चुका है, उसे छोड़ ही देना चाहिए। कालिदास अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' में कहते हैं : 'हर चीज केवल इसलिए अच्छी नहीं है कि वह पुरानी है। कोई भी साहित्य केवल नया होने के कारण नगण्य नहीं समझा जा सकता। महापुरुष उपयुक्त विवेचन-परीक्षण के पश्चात् ही एक या दूसरे को ग्रहण करते हैं। केवल मूर्ख ही दूसरों के विश्वासों द्वारा पथभ्रष्ट होते हैं।'

इतिहास निरंतरता और प्रगति है। परंपरागत निरंतरता केवल यांत्रिक सृजन नहीं है, वह सृजनात्मक रूपांतरण है। हमें धार्मिक यथार्थता को दूसरे युगों की पद्धति एवं विचारसरणी से निकाल कर अपने युग एवं संतति की आवश्यकताओं और मांगों के अनुरूप ढालना पड़ेगा और इस प्रकार उसकी रक्षा करनी पड़ेगी। हमें ऐसे सामान्य लक्ष्यों का सृजन करना होगा जो प्रभुता या हीनता की कोई भावना आए बिना जीवित धर्मों को एक कर सकेंगे। काल सब वस्तुओं को बदल देता है। तब हमें अपनी आंतरिक भावना एवं प्रेरणा द्वारा सनातन सत्य तक पहुंचना होगा।'

—डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

धर्म आत्मा की मुक्ति का साधन है, पुण्य शुभ परमाणुओं का बंधन है। बंधन और मुक्ति एक नहीं हो सकते—धर्म और पुण्य भी एक नहीं हो सकते।

पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की। बेड़ी आखिर बेड़ी है, भले ही फिर वह लोहे की हो या सोने की। धर्म बेड़ी को तोड़ने वाला है। आत्मा में मन, वाणी और काया की चंचलता होती है, तब तक परमाणु उसके चिपकते रहते हैं। प्रवृत्ति धर्म की होती तो पुण्य के परमाणु चिपकते हैं और प्रवृत्ति अधर्म की होती है तो पाप के परमाणु चिपकते हैं। आत्मा पर जो अणुओं का आवरण होता है उसे हर कोई आदमी नहीं जान पाता। जिनकी दृष्टि विशुद्ध होती है वे उसे प्रत्यक्ष देख लेते हैं। धर्म इसलिए किया जाना चाहिए कि आत्मा इन दोनों आवरणों से मुक्त हो।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

वर्तमान जीवन-शैली ने संयुक्त परिवार की प्रथा को तोड़ा है और एकल परिवारों की संस्कृति को जन्म दिया है। जबसे गांवों का शहरों की ओर पलायन शुरू हुआ है, संबंधों का धरातल खिसकता हुआ प्रतीत हो रहा है। पारिवारिक रिश्तों में लिजलिजापन आता जा रहा है। शिक्षा, व्यवसाय, आवास आदि की समस्याओं ने भी बड़े परिवारों के आगे प्रश्नचिह्न खड़े कर दिए हैं। एकल परिवारों में संस्कार, संस्कृति और परंपराओं की विरासत छिन्न-भिन्न हो रही है। इस त्रासदी का अनुभव बहुत-से लोग कर रहे हैं। किंतु इसे समाप्त करने की प्रक्रिया हाथों से निकल गई है। इसी कारण भारतीय संस्कृति, सभ्यता और परिवेश का स्वरूप बदल गया है।

वर्तमान युग का ढांचा उपभोक्ता मूल्यों वाली संस्कृति के आधार पर टिका है। इस युग की जीवन-शैली ने आवश्यकताओं पर आकांक्षाओं का लबादा डाल दिया है। आवश्यकता और आकांक्षा के बीच कोई भेद-रेखा न होने से आम आदमी दिग्भ्रांत बन रहा है। उसके जीवन में संयम या व्रत की चेतना क्षीण से क्षीणतर हो रही है। ऐसी स्थिति में किसी ऐसे अभियान या अनुष्ठान की अपेक्षा है, जो जन-जन के मन में सोई हुई व्रत-चेतना को जगा सके। अणुव्रत आंदोलन इस अपेक्षा की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

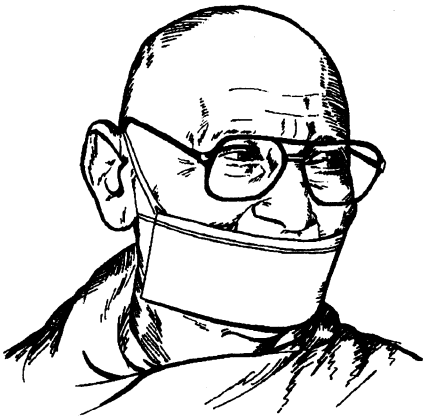

शिक्षा के संदर्भ में या कार्यक्षेत्रीय कौशल के संदर्भ में एक बड़ा तत्त्व है संवेग का संतुलन। प्रश्न होगा कि यह संतुलन कैसे हो? यही शिक्षा का महत्त्वपूर्ण बिंदु है। इस बिंदु का स्पर्श न करें तो शिक्षा शाब्दिक और बौद्धिक विकास के लिए बन जाएगी, किंतु वह चरित्र का विकास और व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली नहीं बनेगी। इस बिंदु पर ही जीवन विज्ञान की उपयोगिता हमारे सामने आती है। कुछ लोग कहते हैं—एक महापुरुष की जीवनी पढ़ा देंगे तो विद्यार्थी अच्छा बन जाएगा। हम इसको अस्वीकार नहीं करते। गांधी के साहस की एक घटना पढ़ेंगे तो साहस का विचार स्फुरित होगा। कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी की कोई घटना पढ़ेंगे तो दिमाग में एक बिजली कौंध जाएगी, एक तरंग पैदा हो जाएगी। किंतु यह मानव-मस्तिष्क भी अजीब है। क्या यह कह सकते हैं—एक बार जो तरंग आई, वह मस्तिष्क में छाई रह जाएगी? समुद्र में कितनी ही तरंगें उठती हैं, किंतु वापस गिर जाती हैं। तरंग टिकती कहां है? उसे टिकाने की कोई प्रक्रिया खोजें।

आज शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा है। हम पुस्तकों के माध्यम से कर्तव्यबोध, दायित्वबोध, राष्ट्रीय एकता आदि का पाठ कितना ही पढ़ा दें, तब तक उनकी कोई सार्थकता नहीं होगी जब तक इनकी अनुप्रेक्षा नहीं कराई जाएगी। जब तक स्वतःसूचन या 'सजेस्टोलोजी' के प्रयोग नहीं कराए जाएंगे, कायोत्सर्ग की मुद्रा में शिथिलीकरण कराकर उन शब्दों को हृदयंगम नहीं करा दिया जाएगा और वह भी एक बार में नहीं, महीनों तक निरंतर सातत्य की प्रक्रिया नहीं चलेगी, तब तक जो पढ़ाया जा रहा है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं होगा।

कार्यक्षेत्रीय कौशल के क्षेत्र में जीवन विज्ञान के प्रयोग बहुत सार्थक हैं। आत्मविश्वास के लिए कौन-सा प्रयोग होना चाहिए, निर्णयशक्ति बढ़ाने के लिए कौन-सा प्रयोग करें, स्मृति विकास और एकाग्रता के लिए कौन-सा प्रयोग करें? इन सबके लिए जीवन विज्ञान के प्रयोग निर्धारित हैं। उनका दीर्घकालिक अभ्यास बहुत जरूरी है। अगर ऐसा होता है तो कार्यक्षेत्र में ही नहीं, हर क्षेत्र में व्यक्ति सफलता का अनुभव कर सकता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा पर्व

समूचा देश पूरे वर्ष अहिंसामय हो जाएगा! श्रमण महावीर की 26वीं जन्म शताब्दी पर भारत सरकार ने यह वर्ष 'अहिंसा-वर्ष' घोषित जो कर दिया है। सरकार जब-जब ऐसा करती है तो शंकाएं खड़ी होती हैं। हमने देखा है कि कभी महिलाओं के लिए, कभी विकलांगों के लिए, कभी शिक्षा-स्वास्थ्य—कहा जा सकता है कि हमारे रोजमर्रा के चिंता अथवा चर्या के जितने सारे बिंदु हो सकते हैं—जब-जब 'वर्ष' के रूप में वे घोषित हुए हैं तो संशय पैदा होते रहे हैं। यह संशय सरकार की प्रतिबद्धता को लेकर ही होता है। हां ! इस बात को लेकर कभी कोई संशय नहीं रहता कि किसी मुद्दे को लेकर जब सरकार की ओर से विशिष्टता का ऐलान हो गया तो माना जाने लगता है कि बस सरकार ने अपना काम कर दिया, इससे अधिक की आशा सरकार से फिर किसी के मन में नहीं रहती। यह क्यों ?

लगता है कि सरकार के ऐसे ऐलान बहुत सुचिंतित-सुनियोजित नहीं होते, वे बहुत सतही-रिवाजी किस्म के होते हैं। यह भी सचाई है कि आम तौर पर इन सबके पीछे कुछ राजनीतिक-सामाजिक दबाव और कुछ लोक-व्यवहार के निर्वाह का भाव भी रहता है। भगवान महावीर का 2600वां जन्म कल्याणक पर्व और फिर 'अहिंसा-वर्ष' की घोषणा जैसी बातें उपरोक्त मंतव्य की पुष्टि करते हैं। ऐसे आयोजनों की गरिमा के प्रति सरकार की चिंता कितनी सतही होती है—यह 6 अप्रैल के रोज दिल्ली में 'कल्याणक समारोह' के दौरान जो कुछ घटा उससे जाहिर हो जाता है। स्वयं प्रधानमंत्री उस समारोह में उपस्थित थे, जो 2600वीं जन्म कल्याणक समिति के राष्ट्रीय अध्यक्ष भी हैं।

हम बात 'अहिंसा-वर्ष' को लेकर करना चाहते हैं। सरकार ने इसकी घोषणा कर दी, तभी से यह चर्चा भी उन क्षेत्रों में शुरू हो गई, पर पूरी 'अस्पष्टता' भी सामने आ गई। आखिर 'अहिंसा-वर्ष' घोषित कर दिए जाने पर किसे–क्या करना है— सरकार क्या करे, समाज क्या करे ? क्या कोई नीति स्पष्ट है और कोई लक्ष्य भी ? वे जो अपने को महावीर के पक्के अनुयायी मानते हैं, उनकी बात एक बार छोड़ दें और जरा देखें कि सरकार ने जब यह वर्ष 'अहिंसा-वर्ष' घोषित कर दिया है तो अब इस वर्ष में उसके द्वारा क्या-क्या होने वाला है? हमें कोई तस्वीर नजर नहीं आएगी। विचार करें, ऐसे अहिंसा-वर्ष का क्या होगा? ऐसी घोषणा के मानी भी क्या हैं?

हिंसा-अहिंसा पर यदि हम किसी के मन या कि मंतव्य को ही जानना चाहें तो पाएंगे कि किसी भी धर्म या दर्शन-सिद्धांत में हिंसा की इजाजत नहीं है। यहां तक कि इस्लाम में जहां 'कुर्बानी' का महत्त्व दर्शाया गया है, वहां भी हिंसा को किसी सूरत में प्रश्रय नहीं है। जहां बलि दी जाती है वे भी हिंसा को महिमा-मंडित नहीं करते।

भारत की इस भूमि पर जो लोकतंत्र खड़ा है और गुलामी की बेड़ियों से जिस गांधी ने इस देश को मुक्त कराया था, उस गांधी के पास 'अहिंसा' ही मुक्ति का एकमात्र शस्त्र और शास्त्र था। गांधी के बाद राजनीतिक-सामाजिक जीवन में इस शस्त्र और शास्त्र का इस्तेमाल कौन कर सका? कोई नजर नहीं आता। कहा जा सकता है कि मुक्ति के लिए प्रयोग में लिया गया यह शस्त्र स्वतंत्रता और लोकशाही के इस काल में भोथरा बन गया। गांधी के लिए यह अमोघ-अचूक अस्त्र था तो इसलिए कि गांधी की अहिंसा का स्तर प्रतिकार में भी सहिष्णुता और प्रेम से पगा था। ब्रितानी हुकूमत के विरुद्ध समूचे आंदोलन में गांधी ने जो सविनय अवज्ञा की उसमें घृणा या विषाद का भाव अपने मन में कहीं नहीं आने दिया। यह कहा भी जाता है कि अपने बचाव के लिए हिंसा का सहारा लेते हुए आतताई के प्रति यदि घृणा न उपजे तो वैसी हिंसा करने वाला अंततः अहिंसक ही माना जाएगा। जाहिर है कि स्थूल-हिंसा या कि स्थूल-अहिंसा में हिंसा या अहिंसा का मर्म निहित नहीं है। ऐसी अहिंसा वाली इस भारत-भूमि को 'अहिंसा-वर्ष' की जरूरत यदि आ पड़ी है तो इसीलिए कि अहिंसा को लेकर हमारे अब तक के सरोकार 'स्थूल-अहिंसा' तक ही सीमित रहे हैं। यहां तक कि धर्म भी इसी 'स्थूल-अहिंसा' पर ही जोर देता रहा है। जीवहत्या-भर ही हिंसा है, यही बात की जाती और सामान्यतः बताई जाती रही है। अब तक के अहिंसक आंदोलन 'जीव-रक्षा' तक ही सीमित रहे हैं। इसीलिए हमारे दैनंदिन जीवन व्यवहार में अहिंसा कभी शुमार नहीं रही। यहां तक कि श्रमण महावीर का अटूट अनुयायी जैन-समाज भी 'हिंसा-अहिंसा' को जीव-हत्या, जीव-रक्षा की निगाह भर से देखता रहा और इसीलिए इस समाज ने भी शोषण और संग्रह की प्रवृत्ति में किसी तरह की हिंसा नहीं देखी और इसी कारण महावीर का अनुयायी यह समाज अक्सर इस दृष्टि से निंदा का पात्र कहलाया जाता रहा।

अब भारत-सरकार की ओर से घोषित 'अहिंसा-वर्ष' के लिए भी कोई दिशा-संकेत सामने नहीं है और न यह आशा की जा सकती है कि अहिंसक समाज रचना में सरकारें कुछ कर सकती हों। अलबत्ता सरकारों के पास करने को बहुत कुछ है, बशर्ते कि सरकारें भी 'आतताई के प्रति घृणा न रखते हुए प्रतिरक्षा' का भाव पहले अपने में उपजाएं। यहां यह बात दोहराने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि सस्ती वाह-वाही अथवा सतही निंदा से प्रभावित हुए बिना सरकारें बुनियादी बातों को अंगीकार करने के लिए अपने को संकीर्णता से मुक्त करें। यदि ऐसा हो जाए तो 'अहिंसा-वर्ष' के इस काल में सरकारें कुछ ऐसे कदम उठा सकती हैं जिनके दूरगामी परिणाम आ सकते हैं। जैसे कि स्काउटिंग, एन.सी.सी. व एन.एस.एस. जैसे अभियानों की तरह अहिंसक समाज-संरचना का प्रभावी अभियान शिक्षण-संस्थाओं में शुरू किया जा सकता है। तथापि बुनियादी तौर पर ऐसे आंदोलन सामाजिक स्तर पर ही कारगर सिद्ध हो सकते हैं, अलबत्ता सरकारें विधायी स्तर पर कुछ मददगार अवश्य बन सकती हैं।

सामाजिक स्तर पर आदर्श सिद्धांत के रूप में अहिंसा की प्रतिष्ठा में जहां किसी को किंचित भी संदेह नहीं है, ठीक इसके विपरीत व्यावहारिक स्तर पर अहिंसा का समावेश रंच मात्र-सा ही प्रतीत होता है। हम यदि सोचते हैं कि व्यावहारिक स्तर पर भी अहिंसा का दर्शन किसी तरह हो तो हमें हिंसा की जड़ों को खोखला करना होगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी हिंसा के कुछ कारण गिनाते हैं जो न हमारे लिए अनजाने हैं और न अजूबे, पर इन बातों को व्यवहार में लाना अवश्य दुसाध्य है, अलबत्ता असंभव नहीं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अहिंसा को व्यवहार के स्तर पर सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित करते हुए हिंसा के पांच कारण गिनाते हैं, वे कहते हैं—(1) संग्रह और परिग्रह की मनोवृत्ति, (2) दूसरों पर हुकूमत करने की मनोवृत्ति, (3) अपने बड़प्पन के लिए कमजोर का शोषण, (4) अपनी जाति और संप्रदाय को सर्वोच्च मानने की मनोवृत्ति और (5) अधिकतम सुविधा भोगने की मनोवृत्ति—ये कुछ ऐसे कारण हैं जो अहिंसक समाज-रचना में सहायक नहीं हो सकते हैं।

'अहिंसा-वर्ष' की अर्थवत्ता इसी बात में है कि समाज उपरोक्त पांचों विकृतियों से कैसे मुक्त हो? राजसत्ता की ही तरह धर्मसत्ता का वर्चस्व समाज पर रहता आया है, बल्कि धर्मसत्ता समाज को अधिक गहराई से प्रभावित करती रही है। अतः यह अपेक्षा अस्वाभाविक नहीं होगी कि सत्ता का यह प्रतिष्ठान 'अहिंसा-वर्ष' की इस अवधि में अपनी ऐसी भूमिका प्रस्तुत करे जिसमें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पांचों बिंदुओं का फलितार्थ परिलक्षित हो।

— शुभू पटवा

विमर्श

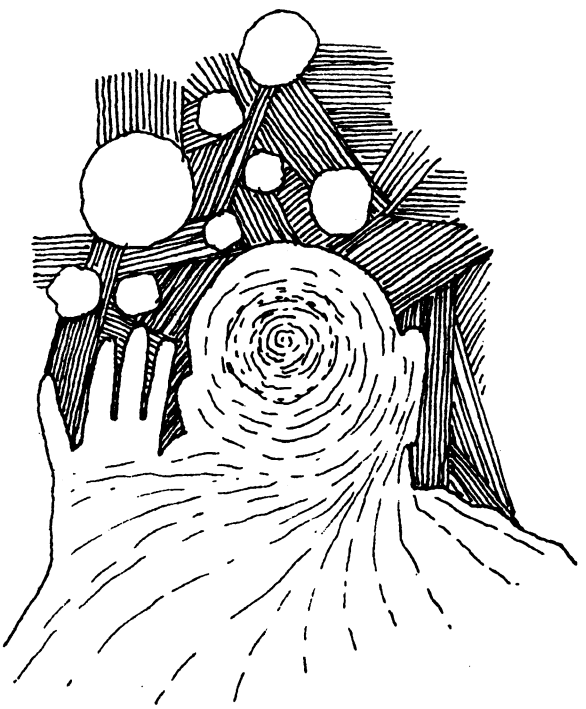

'मनुष्य के जिस आत्म की जिज्ञासा दर्शन करता है—या जिसकी जिज्ञासा उसे करनी चाहिए—वह व्यक्तिविशेष को अनुप्राणित करने वाला आत्म या आत्मातत्त्व न हो कर समग्र मानवता का सांस्कृतिक आत्म है, जिसकी चेतनापरिधि में युग-युग का सौंदर्य-बोध, नीति-बोध, आध्यात्मिक-बोध एवं इन सबसे सहचरित, और इन्हें दृष्टि की एकता में बांधने वाला, जीवनविवेक समाहित रहता है। कहने की जरूरत नहीं कि मनुष्य का यह सांस्कृतिक आत्म, जिसके ग्रथन में अनेकानेक प्रतिभाओं का सृजनात्मक योग रहता है, निरंतर विस्तृत एवं विकसित होता रहता है। फलतः उसका विश्लेषणात्मक अनुशीलन करने वाला दर्शन भी निरंतर विकासशील एवं विस्तारशील रहता हुआ अग्रसर होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि दर्शन मनुष्य की विकासमान संस्कृति अथवा सांस्कृतिक की आत्मावगति है जो विभिन्न रूपों में तरह-तरह के प्रतीक-व्यूहों का आधार लेकर गठित और रक्षित होती चलती है; और क्योंकि दर्शन अथवा दार्शनिक चिंतन स्वयं भी उक्त सांस्कृतिक चेतना अथवा प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग है, इसलिए कहना चाहिए कि दर्शन स्वयं अपने विकासमान रूपों की भी आत्मावगति है। यही वजह है कि बदले हुए युगबोध की अनुरूपता में दर्शन को स्वयं अपने को भी पुनः-पुनः परिभाषित करते हुए अग्रसर होना पड़ता है।'

—डा. देवराज

धर्मानुभूति और शास्त्रानुकूलता

□ नन्दकिशोर आचार्य □

यह अनिवार्य नहीं है बल्कि अक्सर इसके विपरीत अनुभव ही अधिक हुए हैं कि शास्त्रानुकूल या संस्थानुकूल आचरण करने पर किसी व्यक्ति को धार्मिक अनुभूति भी हो सके—क्योंकि धर्म मूलतः अनुभूति या बोध है। किसी भी प्रकार के भय—सामाजिक, वैयक्तिक अथवा सांप्रदायिक—या लोभ—लौकिक या पारलौकिक—से प्रेरित आचरण अनिवार्यतया धार्मिक आचरण नहीं है।

धर्म पर किसी भी तरह का विचार-विमर्श करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि वह सर्वप्रथम एक निजी अनुभूति है। जब हम अपनी निजी अनुभूति को अन्य लोगों तक संप्रेषित करते और उन्हें वह रास्ता बताते हैं जिससे वे भी उस प्रकार की अनुभूति तक पहुंच सकते हैं, तब ही किसी धार्मिक संप्रदाय का जन्म होता है। अतः धर्म अपने मूल रूप में अपने अस्तित्व की ही आनंदानुभूति है जिसे किसी एक ही प्रकार में बद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ लोगों के लिए यह आनंदानुभूति ईश्वर जैसी किसी साकार सत्ता की कल्पना के माध्यम से ही संभव हो पाती है तो अन्य कुछ के लिए किसी निराकार निर्वैयक्तिक परमचेतना से जुड़कर। धर्मों के विकास का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि साकार या वैयक्तिक ईश्वर जैसी कोई धारणा धर्मानुभव के लिए आवश्यक नहीं है। अपने मूल रूप में वेदांत, ताओ या प्रारंभिक बौद्ध धर्म में ईश्वर जैसी किसी सत्ता की आवश्यकता को अनुभव नहीं किया गया है और उसके बिना ही अपने अस्तित्व की चरम आनंदानुभूति को संभव माना गया है। अन्य धर्मों में भी ऐसे बहुत-से रहस्यवादी संप्रदाय हैं जो ध्यान प्रक्रिया के माध्यम से अपने अस्तित्व की आनंदानुभूति को ही चरम धार्मिक अनुभव मानते हैं। इसलिए धर्म पर विचार करते समय किसी उपासना-पद्धति—यद्यपि वह किसी भी धर्म का अंग हो सकती है—और धर्म को एक ही मानने पर आग्रह नहीं होना चाहिए तथा किसी भी उपासना-पद्धति पर एकांगी और असहिष्णु आग्रह नहीं किया जाना चाहिए।

धर्मानुभव या आध्यात्मिक अनुभूति यदि मानवीय चेतना का ही एक विशिष्ट अनुभव और विकास है तो उसकी प्रामाणिकता की परख इसी बात से हो सकती है कि उससे स्वयं मानवीय चेतना की स्वतंत्रता और सृजनशीलता को कितनी पुष्टि मिलती है। इसलिए किसी एक धार्मिक संप्रदाय की पद्धति को ही एकमात्र पद्धति मानना या मानवीय चेतना के संपूर्ण विकास को किसी एक ही उपासना-पद्धति के घेरे में बंद कर देने की असहिष्णु कोशिश मूलतः एक चेतना-विरोधी कोशिश हो जाती है, अतः वह प्रकारांतर से एक धर्मविरोधी कोशिश भी हो जाती है। ईश्वर, यदि वह है तो, इतना निर्दय नहीं हो सकता कि एक प्रकार की उपासना-पद्धति के अलावा अन्य तरीकों से उपासना करने वालों को अनंत काल के लिए नारकीय यातना में तड़पता छोड़ दे। इस संदर्भ में एक भारतीय रहस्यवादी संत का यह कथन अधिक सही लगता है कि अलग-अलग दीपों में विभिन्न प्रकार के तेल और भिन्न-भिन्न प्रकार की बातियां हो सकती हैं लेकिन जब वे जलते हैं तो हमें एक ही प्रकार की लौ और प्रकाश मिलते हैं।

दरअस्ल, धार्मिक संप्रदाय के आधार पर किसी बिरादरी की कल्पना और अन्य को अपने से सामाजिक स्तर पर अलग मानने की धारणा असंगत ही नहीं बल्कि अधार्मिक भी है। धर्म समूची सृष्टि में एकत्व देखना है, अतः यदि हम धर्म के आधार पर ऐसी राजनीतिक या सामाजिक बिरादरी बनाते हैं जिसे अन्य रूप से अलग और श्रेष्ठ माना जाए तो निश्चय ही यह धर्म की मूल भावना के ही विपरीत है क्योंकि इससे तो मानवता के एकत्व की धारणा भी खंडित हो जाती है—पूरे जीवन या सृष्टि के एकत्व की बात तो तब और भी दूर चली जाती है। धर्म अंततः एक निजी अनुभव है अतः दो समान अनुभवों वाले व्यक्ति धार्मिक अनुभव के क्षेत्र में एक-

दूसरे के अधिक निकट हो सकते हैं—यद्यपि सभी धार्मिक अनुभवों का वर्णन एक ही प्रकार से किया गया है—लेकिन इस आधार पर राजनीतिक या आर्थिक मामलों में वे अनिवार्यतया एक-दूसरे के अधिक करीब नहीं हो पाते। धर्म एक साधना-पद्धति है, वह कोई सामाजिक-आर्थिक संगठन नहीं है और ऐसा संगठन तो कतई नहीं जिसके हित या स्वार्थ बाकी मानव समाज के हितों से अलग या विपरीत हों।

धर्मानुभूति वस्तुतः अपने को जानने की आनंदानुभूति है। यह जानना अपने को दूसरों में अर्थात् ममेतर में अपने को जानना भी हो सकता है और ममेतर को अपने में जानना भी और इसलिए धार्मिक व्यक्ति ही वस्तुतः कह सकता है कि 'जो मेरा है, वही ममेतर है।' इन दोनों ही प्रकारों से अपने को जानना अपने को विस्तार देना भी है और सृष्टि मात्र के साथ एक अस्तित्वगत रहस्यात्मक रिश्ते का अनुभव करना भी। यही कारण है कि दुनिया के सभी रहस्यवादियों में एक बात समान मिलती है और वह है सभी प्राणियों बल्कि सृष्टि मात्र में एकत्व की अनुभूति। यह अनुभूति ही धर्म का वास्तविक मूल तत्त्व है। इसलिए धर्म के पालन के नाम पर बाह्य आचरण के कुछ नियमों का पालन, प्रतीकों की पूजा और कुछ शास्त्रों का अनुकरण करने का आग्रह किया जाता है तो उसका महत्त्व एक सीमा तक ही है। इनमें से किसी की भी आत्यंतिक सार्थकता नहीं है, इनके बिना भी धार्मिक अनुभूति संभव है, अतः इन चीजों को ही धर्म मान लेना पूर्णतः संगत नहीं है। इनमें से प्रत्येक चीज का कुछ लोगों के लिए कुछ व्यावहारिक महत्त्व हो सकता है और उन्हें अपनी साधना-प्रक्रिया में इनसे मदद भी मिल सकती है और इस प्रकार संबंधित व्यक्तियों के लिए एक सीमा तक इन सबकी सार्थकता भी हो सकती है। लेकिन जो लोग इस सारी प्रक्रिया में से गुजरे बिना ही धार्मिक लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं, उन्हें किसी बाह्य धार्मिक नियम, प्रतीक या शास्त्र से बाधित करना आवश्यक और संगत नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह यह भी अनिवार्य नहीं कहा जा सकता कि धार्मिक आचरण के लिए किसी विशेष धर्म में आस्था हो ही बल्कि किसी भी तरह की विशिष्ट चेतना का अलग से होना भी आवश्यक नहीं समझा जाना चाहिए। यदि हम दूसरों में अपनी अनुभूति कर सकते हैं या अपने में ममेतर को अनुभव कर पाते हैं और हमारा आचरण इस बोध से अनुप्राणित है तो हमारा आचरण सहज रूप से धार्मिक आचरण ही है—उसमें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम किसी विशेष उपासना-पद्धति में आस्था रखते हैं या नहीं अथवा हम अपने धार्मिक आचरण के प्रति कितने सजग हैं। जीवन का प्रत्येक कर्म एक धार्मिक आचरण हो सकता है यदि हम उसके माध्यम से अपने अहं की झूठी सीमा का अतिक्रमण कर ममेतर के साथ एक अस्तित्वगत सृजनात्मक रिश्ता अनुभव कर सकें। इन्हीं अर्थों में गांधीजी संत थे और वह कहते भी थे कि राजनीति मेरे लिए एक प्रकार की आध्यात्मिक साधना है। इस दृष्टि से भौतिकवादी क्रांतिकारियों को भी धार्मिक ही स्वीकार करना चाहिए—चाहे उनका किसी धार्मिक मतवाद या धर्म की धारणा में विश्वास भी न रहा हो—क्योंकि वे अपने कर्म के माध्यम से अपने-अपने अहं की परिधि के बाहर आकर पूरे मानव-समाज के साथ अपने एकत्व का अनुभव कर रहे थे। इतिहास की प्रक्रिया को एक निर्वैयक्तिक सत्य की तरह अनुभव कर अपने को उसमें मिला देना एकत्व की किसी गहरी अनुभूति के बिना संभव नहीं है और जिन महापुरुषों ने अपने जीवन को एकनिष्ठ होकर किन्हीं बड़े उद्देश्यों के लिए अर्पित कर दिया हो उन्हें धार्मिक ही मानना होगा, चाहे वे स्वयं उसे स्वीकार न भी करें—बल्कि मानना चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वर या किसी ऐसी ही अदृश्य शक्ति में विश्वास रखे बिना भी पूरी मानव जाति के प्रति अस्तित्वगत लगाव का अनुभव करता है तो उसका यह लगाव अधिक सहज और गहरा है क्योंकि वह उसके बदले किसी तरह की कृपा प्राप्त करने का इच्छुक भी नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाए तो धर्म और समाजवाद एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं होते—बल्कि दोनों की अनुभूति एक ही दिशा की ओर ले जा सकती है। वे एक-दूसरे के विरोधी तभी होते हैं जब वे अनुभूति का बोध न रहकर अपने संगठित होने को अधिक महत्त्व देने लगें।

यदि सृष्टि मात्र के साथ एक अस्तित्वगत रहस्यात्मक रिश्ते का अनुभव ही धर्मानुभव है तो धार्मिक आचरण और धार्मिक बोध के संबंध में भी इसी दृष्टि से विचार करना वांछनीय होगा। सामान्यतया धार्मिक आचरण के निर्धारण में दो प्रकार के कार्यों पर विचार किया जाता है—सामान्य नैतिक और मानवीय कार्य तथा उपासना-पद्धति से संबंधित नियम एवं उपासना-प्रक्रिया। पहली कोटि में साधारणतया वे सभी धारणाएं आ जाती हैं जिन्हें हम नैतिक या मानवतावादी धारणाएं कहते हैं। सचाई, दया, करुणा, दान आदि सभी इसी कोटि के अंतर्गत गिने जा सकते हैं—ये आचरण के कुछ ऐसे आदर्श हैं जिन पर सभी धर्म सहमत होते हैं और अलग-अलग उपायों से मनुष्य में इन प्रवृत्तियों के विकास को प्रेरणा देने का उपक्रम करते रहते हैं। इसलिए इन आदेशों को किसी एक विशेष धर्म या पंथ के अंतर्गत न मान कर मानव-धर्म का नाम भी दे दिया जाता है। इस तरह के आचरण की एक

सामाजिक प्रतिष्ठा भी रहती है और कई दफा यह सामाजिक प्रतिष्ठा या परलोक में सुखों की कामना भी इस प्रकार के व्यवहार का मूल कारण बन जाती है।

दूसरी कोटि विभिन्न धार्मिक संप्रदायों द्वारा निर्धारित उपासना-पद्धति और उस के लिए निर्धारित कर्मों का पालन है। इस संबंध में प्रत्येक संप्रदाय अपनी विशिष्टता रखता है और एक अलग ही प्रकार की उपासना-पद्धति निश्चित कर उसी के पालन पर आत्यंतिक जोर देता है। ये उपासना पद्धतियां चाहे एक ही लक्ष्य तक पहुंचाने का दावा करती हों लेकिन प्रत्येक संप्रदाय का आग्रह अपनी ही पद्धति पर रहता है और वास्तव में वह संप्रदाय किसी भी व्यक्ति के धार्मिक आचरण को तभी वैध मानता है जब संबंधित व्यक्ति उसी संप्रदाय की उपासना-पद्धति में विश्वास करता हो और उसके अनुकूल आचरण करने के लिए प्रस्तुत हो। यही कारण है कि जहां एक संप्रदाय मूर्ति-पूजा को कुफ्र मानता है, वहीं दूसरा संप्रदाय मूर्तिपूजा को धार्मिक भावना की सब से सरल और प्रभावी अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है। कोई संप्रदाय परम सत्ता को वैयक्तिक मानता है तो कोई निर्वैयक्तिक, और इसी तरह के मतभेदों के आधार पर उपासना-पद्धति में भी फर्क पाए जाते हैं।

यही कारण है कि प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय अपने सिद्धांतों या धारणाओं के अनुसार धार्मिक आचरण के कुछ निश्चित नियम भी निर्धारित करता है। प्रत्येक संप्रदाय में इसीलिए अपने अलग धर्मशास्त्रों का विकास होता आया है और उस संप्रदाय के अनुयायी के धार्मिक आचरण की परख उन धर्मशास्त्रों के आधार पर ही की जाती है। व्यक्ति के पूरे जीवन को इन धर्मशास्त्रों से बांधने की कोशिश की जाती है ताकि उसका प्रत्येक कार्य धार्मिक कर्म हो जाय। इसलिए प्रत्येक संप्रदाय में एक ऐसा संस्थान भी विकसित हो जाता है जिसका मूल कार्य इन धार्मिक नियमों का पालन करवाना, उपासना-पद्धति को सिखाना या उसका प्रचार करना और बदलती हुई परिस्थितियों में आचरण के शाश्वत नियमों की शास्त्रानुकूल नई व्याख्या करना होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय कुछ धर्मशास्त्रों और उनके किसी संरक्षक संस्थान पर निर्भर करता है और उस संप्रदाय में वही कर्म धार्मिक आचरण की कोटि में आता है जिसे शास्त्र या उसके संरक्षक संस्थान की स्वीकृति प्राप्त हो।

लेकिन यह अनिवार्य नहीं है बल्कि अक्सर इसके विपरीत अनुभव ही अधिक हुए हैं कि शास्त्रानुकूल या संस्थानुकूल आचरण करने पर किसी व्यक्ति को धार्मिक अनुभूति भी हो सके—क्योंकि धर्म मूलतः अनुभूति या बोध है। किसी भी प्रकार के भय—सामाजिक, वैयक्तिक अथवा सांप्रदायिक—या लोभ—लौकिक या पारलौकिक—से प्रेरित आचरण अनिवार्यतया धार्मिक आचरण नहीं है। यदि हम दुखी पर इसलिए दया करते हैं कि दया करना धार्मिक होना है तो हम चाहे कितना ही उच्च आचरण कर रहे हों वह वास्तविक अर्थों में धार्मिक आचरण नहीं है। वह धार्मिक आचरण तभी है जब हम में दया करने या उस की अच्छाई का अलग से कोई बोध नहीं है बल्कि किसी का दुख हमारा अपना दुख है क्योंकि उससे हमारा सहजसिद्ध अस्तित्वगत रिश्ता है—चाहे उस दुखी व्यक्ति की हम उतनी सहायता न भी कर पाएं जितनी वह दूसरा व्यक्ति करता है जिसका आचरण किसी सहज बोध से नहीं वरन् धर्मशास्त्र से प्रेरित है। एक व्यक्ति नियमित उपासना करता और उसकी सारी प्रक्रिया का बिना किसी बोध के यंत्रवत पालन करता है तो भी उसका आचरण वास्तविक अर्थों में धार्मिक नहीं है क्योंकि वह आचरण उसकी चेतना का विस्तार नहीं करता, उसे अपने अहं के छोटे दायरे से बाहर निकालने में सहायक नहीं होता। दूसरी ओर, यदि बिना किसी उपासना-पद्धति के नियमों-उपनियमों का पालन किए कोई व्यक्ति अपने अहं के घेरे को तोड़ कर ममेतर के साथ एकत्व का अनुभव करता है तो वह किसी संप्रदाय विशेष के नियमों से बद्ध न होते हुए भी पूर्णतया धार्मिक है। इसलिए कई बार हमारा आचरण धर्मसम्मत तो हो सकता है पर धार्मिक नहीं होता क्योंकि उसकी मूल प्रेरणा सहज बोध न रह कर शास्त्र या संस्थान का भय और उस के अनुकूल होने की इच्छा होती है।

इसलिए धर्म पर विचार करते समय हमें धार्मिक आचरण और धर्मसम्मत बल्कि शास्त्रसम्मत आचरण में फर्क करना होगा। शास्त्रसम्मत आचरण का किन्हीं विशेष परिस्थितियों में एक व्यवस्था को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है, लेकिन इसके बावजूद उसे तब तक धार्मिक आचरण नहीं माना जा सकता—और इसलिए उस आचरण से कोई धार्मिक उपलब्धि भी नहीं हो सकती—जब तक उसकी मूल प्रेरणा सहज बोध नहीं है। दूसरी ओर, यदि मूल अर्थों में धर्मानुभव से प्रेरित आचरण शास्त्रसम्मत नहीं है या व्यवस्था पर आघात करता है तब भी धार्मिक आचरण ही माना जाएगा क्योंकि वह सहज बोध है अर्थात् उस के माध्यम से हमारे अपने अहं का घेरा टूटता है और हम संपूर्ण सृष्टि के साथ एकत्व के बोध की ओर सहज उन्मुख हो रहे होते हैं। सारी धार्मिक साधना इस एकत्व के सहज बोध को प्राप्त होने की साधना है। धर्मशास्त्रों में निहित आचरण के नियमों का मूल उद्देश्य भी यही है, लेकिन संस्थान मूल प्रेरणा की बजाय

औपचारिक आचरण को अधिक महत्त्व देने लगते हैं और उस का नतीजा यह होता है कि धर्म से नहीं शास्त्र और संस्थान से जुड़ जाते हैं और तब हमारा आचरण शास्त्रसम्मत होते हुए भी धार्मिक नहीं रह पाता।

इसलिए धार्मिक आचरण के प्रशिक्षण में शास्त्रानुशासन की नहीं आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। उसके लिए संस्थान के घेरों में अधिक से अधिक लोगों को समेटने की बजाय घेरों को तोड़ देने की आवश्यकता होती है। संस्थान अनिवार्यतया कुछ औपचारिकताओं की मांग करते हैं और ये औपचारिताएं ही एक सांप्रदायिक संस्थान को दूसरे सांप्रदायिक संस्थान से अलग करती हैं। इसलिए अपने अलग अस्तित्व को बनाए रखने के लिए प्रत्येक संस्थान अपने को दूसरों से अलग करने वाले आचरण पर अधिक आग्रह करता है। मूल प्रेरणा पर उसका बल कम हो जाता है क्योंकि सभी धार्मिक संप्रदायों का भेद वहां मिट जाता है। प्रत्येक संस्थान सत्ता का एक प्रकार होता है और इसी कारण वह धर्म की नहीं, सत्ता की प्रेरणा से निर्देशित होने लगता है। सभी धर्मों का इतिहास इस बात का साक्ष्य देता है कि समय-समय पर ऐसे धार्मिक व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने संस्थान की औपचारिकता, सत्ताप्रियता और रूढ़िबद्धता को तोड़ा है क्योंकि इसके बिना सही धार्मिक आचरण संभव नहीं रह गया था। यह और बात है कि कालांतर में उन्हीं के व्यक्तित्व और उपदेशों के औपचारिक स्वरूप के आधार पर नए संस्थान निर्मित कर लिए गए।

यह आश्चर्यजनक है कि आधुनिक काल में भी धर्म को संस्थानों या शास्त्रों से जोड़कर देखा जाता है। दुनिया में अभी भी ऐसे देश और समाज हैं जिनमें शास्त्रानुकूल आचरण को ही धार्मिक आचरण माना जाता है और इसलिए प्रत्येक संप्रदाय या तो अपने को तंग घेरे में सीमित कर लेता है या दूसरे संप्रदायों के प्रति आक्रामक रुख अख्तियार कर लेता है। कभी-कभी तो लगता है कि धार्मिक होने का एक आयाम अनिवार्यतया संस्थानेतर होना भी है। ❖

इस संसार के निवासी तूफान में फंसे हुए जहाज के उन यात्रियों के समान हैं, जिनके पास भोजन-सामग्री बहुत कम रह गई है। ईश्वर या प्रकृति ने हमें ऐसी स्थिति में डाल दिया है कि आपदा से बचने के लिए कम-से-कम भोजन करना और निरंतर उद्योग करते रहना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। यदि हममें से कोई व्यक्ति ऐसा न करे और दूसरे के उस श्रम का उपभोग कर ले, जो सामान्य हित के लिए आवश्यक नहीं है तो यह हमारे और हमारे सहकारियों, दोनों के लिए नाशकारी है।

क्या कारण है कि आजकल के अधिकांश शिक्षित व्यक्ति न केवल स्वयं परिश्रम न करके शांतिपूर्वक दूसरों के उस श्रम का उपभोग कर लेते हैं, जो उनके जीवन के लिए आवश्यक है, बल्कि यह भी समझते हैं कि उनका ऐसा करना सर्वदा स्वाभाविक एवं उचित है?

अपने आपको स्वाभाविक और उचित श्रम से मुक्त करके और श्रम का भार दूसरों के कंधों पर लादकर भी यदि हम अपने को चोर और धोखेबाज नहीं समझते तो इस संबंध में केवल दो ही धारणाएं बनाई जा सकती हैं—(1) हम लोग, जो साधारण श्रम में भाग नहीं लेते, मजदूरों से भिन्न हैं और समाज में हमारा एक विशेष कार्य है, ठीक उसी तरह जैसे नर-मधुमक्खी या रानी-मधुमक्खी का काम परिश्रमी मधुमक्खियों से भिन्न होता है, (2) जीवन-संघर्ष से मुक्त होकर हम लोग दूसरों के लिए जो काम कर रहे हैं वह इतना उपयोगी है कि उससे निश्चय ही उस क्षति की पूर्ति हो जाती है, जो हम उन पर ज्यादा बोझ लादकर उन्हें पहुंचाते हैं।

—लियो टॉलस्टॉय

धार्मिक संवेदना और कवि मानस : बॉदलेर की साखी

□ रमेशचन्द्र शाह □

धार्मिकता, धर्म-साधना या धर्म-चेतना को लेकर हर काल में पृथक-पृथक कोणों से विचार-विमर्श होता रहा है और कहना होगा कि यह पक्ष सदैव सर्वाधिक विवादास्पद भी रहा है। इस पक्ष पर कवि-साहित्यिक किस रूप में विचार करते हैं—देश के सुपरिचित कवि-चिंतक श्री रमेशचन्द्र शाह अपना दृष्टिकोण विश्व-विख्यात कवि बॉदलेर के बहाने प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि एक सच्चा कवि अपनी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी उसका अतिक्रमण करता है—अपने स्वभाव-स्वधर्म से। यही उस संस्कृति के लिए भी और मानवजाति के लिए भी उसकी विशेष महत्ता का मर्म है।

जैन भारती के पाठकों के लिए खासतौर से लिखा शाह जी का यह आलेख—

'भारत वह देश है जहां काव्य धर्म का सहचर-सहयोगी बनकर प्रतिष्ठित हुआ है; जहां धर्म-संस्थापना या लुप्त धर्म-चेतना के उद्धार का कार्य भी कवियों के माध्यम से ही संपन्न होता आया है।' इंग्लैंड की एक वरिष्ठ कवयित्री एवं विदुषी के मुख से सुना हुआ यह वाक्य मुझे अचानक इस वक्त—बॉदलेर के 'इन्टिमेट जर्नल्स' की टीपों से गुजरते हुए क्यों याद आया?

''प्रगति—'प्रोग्रेस' जैसी चीज निश्चय ही है''—बॉदलेर अपनी डायरी में एक जगह लिखता है। 'मगर, वह उसी के लिए है और तभी तक सच है, जब तक हर मानव-व्यक्ति उसे अपने ऊपर लागू करे—कड़ाई से उसका पालन सुनिश्चित करे। वरण-स्वातंत्र्य=नियति : यह समीकरण, यह एकता सदा से विद्यमान रही है। सच पूछा जाए तो इतिहास और कुछ नहीं, यही है। राष्ट्रों का और व्यष्टि-मानव का भी इतिहास।'

क्या बॉदलेर की यह प्रतीति जड़वादी प्रगति-वादियों की 'प्रगति' संबंधी मान्यता और सक्रियता के साथ जाती है? उसके मेल में ? क्या कोई पाताली रिश्ता है एक ओर ईसाई पाप-बोध, ईसाई मुक्ति-बोध (सैल्वेशन) की संकल्पनाओं तथा मार्क्सीय 'यूटोपिया' के बीच? याकि, ये दो नितांत विपरीत बातें हैं : यूरोपीय संस्कृति के मूल में ही निहित अंतर्विरोध के परिपाक को दर्शाने वाली?

कर्मसिद्धांत क्या कहता है? 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः'। क्या सचमुच ही इसलिए कवियों की बात का भरोसा नहीं किया जा सकता? कर्म की नैतिकता का प्रश्न किस जमाने से मानव-मन को उद्वेलित करता आया है, किंतु उसका कोई समाधान उसे आश्वस्त नहीं कर सका। सो क्यों? संन्यास को—संसार के संपूर्ण नकार के दर्शन को श्री अरविन्द मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में लगाई गई सबसे जबरदस्त छलांग मानते हैं—भौतिक प्रगति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानव-चेतना की। किंतु एक संपूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में तो वे उसका प्रत्याख्यान ही करने को अंतर्विवश होते हैं। संन्यासी का नकार भी उन्हें 'दिव्य जीवन' की उनकी संकल्पना या समझ से उतना ही बेमेल और अधूरा लगता है जितना भौतिकवादी का नकार। भारतीय धर्म-चेतना के समूचे ऐतिहासिक विकास का आकलन करते हुए, उसके किसी भी चरण की उपेक्षा न करते हुए भी वे यह आलोचनात्मक नुक्ता तो दृढ़तापूर्वक उभारते ही हैं कि अपनी वर्तमान परिणति में भारतीय सभ्यता भी उतनी ही कुंठित और पंगु है—अपने 'एस्सेटिक रिफ्यूजल' के फलस्वरूप, जितनी कि पाश्चात्य सभ्यता अपने जड़वादी नकार के फलस्वरूप न केवल स्वयं में ह्रासोन्मुख हुई है, बल्कि दूसरी सभ्यताओं को भी अपनी अनर्थकारी लपेट में लेने को अभिशप्त है। यानी कि दोनों एकांगी हैं अपनी वर्तमान अधोगति में।

तब फिर, इस दुहरी एकांगिता का इलाज क्या है? समन्वय? थीसिस भारत की, ऐंटीथीसिस पश्चिम की और 'सिन्थेसिस', जो अब होगी। मगर, कब और कैसे? जिन

अवधारणाओं और शब्दों की सबसे ज्यादा दुर्गत और अर्थ-क्षति पिछली सदी के दौरान हुई, उनमें से एक यह 'समन्वय' भी है। समन्वय होता होगा, तो दो बराबरी वालों के बीच होता होगा। इस मौजूदा दादागीरी में—जब भूमंडलीकरण पश्चिमीकरण का ही पर्याय बन गया है, समन्वय का क्या अर्थ है?

'कॉन्फ्लिक्ट, मोर कॉन्फ्लिक्ट'—यूरोप के ही एक विश्व-कवि विलियम बटलर येट्स ने कहा था—'समन्वय नहीं, संघर्ष। यही मेरा संदेश है, तुम्हारे देशवासियों के लिए।' कब कहा था उसने यह? 1935 के आसपास? तब से परिस्थिति में कुल मिलाकर क्या फर्क आया है?

एक बात और भी बड़ी बदतमीजी के साथ सिर चढ़ के बोल रही है। क्या सचमुच मामला कुल मिलाकर महज 'एस्सेटिक रिफ्यूजल' और 'मेटीरियलिस्ट डिनायल' के बीच का ही है? भोगवाद का प्राबल्य तो हमने भी अपने सुदीर्घ इतिहास में किसी से कम नहीं देखा है, और संन्यासी का 'नकार' तो हमसे कहीं अधिक पश्चिम की धर्मचेतना पर हावी रहा है। सवाल क्या स्वयं चेतना की निम्नतर भूमियों से मिश्रित और कालांतर में जड़ीभूत होती जाती धर्मदृष्टियों के सांप्रदायिक और साम्राज्यवादी उन्माद से मनुष्य की धर्मचेतना को उबारने का नहीं है?

कवि भी क्या अजीब शै है। इसी 'समन्वय नहीं, संघर्ष, अधिकाधिक संघर्ष' का उद्घोष करने वाले कवि ने एक जगह अपनी डायरी में लिखा था : 'पश्चिम के पापों के बोझ तले कराहता यह पूरब जिस दिन सचमुच उठकर खड़ा हो जाएगा, तब यह गर्वभरा मदमाता पश्चिम उसका कैसे सामना करेगा?'

क्या आज की तारीख में कवि का यह प्रश्न अपने ही विद्रूप-सा उल्टे हमीं को मुंह चिढ़ाता नहीं जान पड़ता?

●

''गैर-कम्युनिस्टों को एक चेतावनी : 'सभी कुछ साझे की संपत्ति है। भगवान भी।''

बॉदलेर की यह टिप्पणी क्या ईशावास्योपनिषद के उस पहले ही श्लोक का स्मरण नहीं जगाती जिसका हवाला देते हुए गांधीजी ने जयप्रकाश नारायण को लिखा था : 'मेरे लिए इसमें पूरा समाजवाद आ जाता है। उसका सार-तत्त्व और समूचा तर्क।'

मगर, माना कि ईसाइयत और इस्लाम और यहूदियत में भी समतामूलक समाज-संकल्पना निहित है, जो कि वर्णाश्रम की 'हायरार्किकल' संरचना के रूप में मानव-समाज की व्यवस्था का आदर्श मॉडल प्रस्तुत करने वाली धर्म चेतना से अलग है। किंतु, जहां तक स्वयं भगवान को यानी दिव्यता और पावनता के उत्स को समस्त मानवता की साझे की संपत्ति सचमुच मानने का सवाल है, वहां तो ये विश्व-धर्म निहायत ही कबीलाई मानसिकता में सिकुड़ जाते हैं। या कहिए, एक राजनीतिक और साम्राज्यवादी संगठन या बिरादरी की पक्षधरता में क्या महज प्रसारधर्मिता ही किसी धर्म-चेतना को विश्व-धर्म कहलाने की पात्रता प्रदान कर देती है? जो चराचर जगत को दिव्यता और पावनता की लीलाभूमि अनुभव कराए, परमात्मा का भी विश्वात्मा की तरह साक्षात करे, वह तो पिछड़ी हुई, आदिम और सर्वथा लंघनीय-घर्षणीय-विस्थापनीय चीज हो जाती है—महज संग्रहालय की सजावट। और जो चराचर तो क्या, मनुष्य-मात्र तक को भी बिला शर्त अपने दायरे में न तो ले सकता हो, बल्कि अपने दायरे के बाहर मुक्ति की पात्रता को ही असंभव करार देता हो, वह विश्व-धर्म! प्रगति यानी 'प्रोग्रेस' के विचार की इससे बड़ी विडंबना और क्या होगी? भारतीय धर्मसाधना का सुदीर्घ इतिहास जहां दार्शनिक सूक्ष्मता की पराकाष्ठाओं को झलकाता है—क्या जैन, क्या बौद्ध और क्या वैदिक-पौराणिक हिंदू धर्म—तीनों ही अभिव्यक्तियों में, वहीं वह विश्वास और उपासना के अनंत वैविध्य की भी अकुंठ स्वीकृति अपने भीतर समाहित किए हुए है। नितांत आदिम धर्मविश्वासों से लगाकर निर्गुण अद्वैत ब्रह्म की उपासना तक—मनुष्य नामक 'वरशिपिंग एनिमल' का कोई भी उपक्रम उसके लिए तिरस्करणीय नहीं।

लगता है, मनुष्य-जाति को इन ऐतिहासिक धर्मों का जितना जो कुछ योगदान—और, निश्चय ही महत्त्वपूर्ण अवदान—संभव हो सकता था, हो चुका। अब विश्वस्तर पर व्यापक धर्मग्लानि और सेंसेट (ऐंद्रिक भोगपरक) संस्कृति के इस युग में धर्मचेतना का पुनर्वास और अभ्युत्थान एकदम भिन्न प्रस्थान की मांग करता प्रतीत होता है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने जब कोई डेढ़ सौ साल पहले भविष्यवाणी की थी कि अब भविष्य का धर्म काव्य के रूप में ही बचेगा—यही उसकी अनिवार्य नियति है : मतवादी धर्मबीजों पर विश्वास असंभव हो जाएगा, तो उसने कुछ गलत नहीं कहा था। सरलीकरण भले कर दिया हो स्थिति का।

●

'भले ही ईश्वर का अस्तित्व न हो, धर्म की पावन और दिव्य सत्ता को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अस्तित्व में आना, अस्तित्व होना, जीव मात्र का अनिवार्य लक्षण भले होगा, किंतु परमात्मा को इस चराचर सृष्टि का शासन

चलाने के लिए—जगन्नियंता की भूमिका निबाहने के लिए इस 'होने' की कतई कोई जरूरत नहीं।'

अजीबोगरीब लग सकता है बॉदलेर का यह कथन। किंतु उन्हीं को, जिनकी धार्मिकता या आस्तिकता अनुभूति या साक्षात्कार का विषय न होकर मात्र एक संस्कार, रूढ़ि अथवा अभ्यस्त चर्या पर अवलंबित और उससे अभिन्न है। बेशक, हममें से अधिसंख्य लोग धार्मिकों की इसी श्रेणी में आते हैं। बल्कि यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि अपने को आस्तिक या नास्तिक मानने वाले भी ज्यादातर वास्तविक विश्वास और वास्तविक अविश्वास-अनास्था—दोनों से काफी नीचे के धरातल पर जिंदगी गुजार देते हैं। वे सच्ची सहानुभूति के पात्र हैं और धर्मशास्त्रों में उनके लिए पूरी जगह है। गीता तो साफ ही घोषित करती है कि 'न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनां'। अर्थात् विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे अज्ञानियों-कर्मसंगियों को अपने उच्चतर 'ज्ञान' से 'कन्फ्यूजन' में न डालें—उन्हें उनके स्वभाव और तैयारी के हिसाब से ही कर्मयोग में प्रवृत्त करें। आज की परिस्थिति की चुनौती मगर अलग है। आज एक ओर अगर एकरूपता की ओर बढ़ती हुई चेहराविहीन 'भीड़' है जिसके लिए 'भोगलालसा और कामुकता का विस्फोट ही कविता का पर्याय बन गया है'—स्वयं बॉदलेर के शब्दों में, तो, दूसरी ओर प्रबुद्धजनों की किंकर्तव्यविमूढ़ता है, जिसका सबसे यथार्थ और खौफनाक चित्रण महाकवि येट्स की ही सुप्रसिद्ध 'सेकण्ड कमिंग' नामक कविता में हमको मिलता है :

> थिंग्ज फॉल एपार्ट, दि सेंटर कैन नॉट होल्ड
> मियर अनार्की इज लूज्ड अपान दि वर्ल्ड
> दि बैस्ट लैक ऑल कन्विक्शन, ऐंड दि वर्स्ट
> आर फुल ऑव पैशनेट इंटेन्सिटी।

प्रबुद्धजनों की यह किंमूढ़ता या संशयात्मा चित्तवृत्ति तबसे कुछ खास सुधरी है, इसका कोई लक्षण नहीं दीखता। धर्म भी उसी की रक्षा करता है जो स्वयं धर्म की रक्षा करने में समर्थ हो। मगर इस तरह की वस्तुस्थिति में ऐसी प्रत्याशा निराधार और संशयात्मा बुद्धिजीवियों से कैसे की जाए? 'हिंद स्वराज' में गांधीजी ने यह विश्वास जताया था कि...'हिंदुस्तानी महासागर के किनारे पर ही मैल जमा है। जो उससे गंदे हो गए हैं, उन्हीं को साफ होना है। बाकी करोड़ों देशवासी तो सही रास्ते पर ही हैं।' पर एक सदी बीत गई तबसे। अब यह आशा करना ठीक नहीं होगा कि हमारे श्रद्धाजीवी भोले-भाले सामान्यजन हमें बचा लेंगे और हमारी हस्ती नहीं मिटेगी (इकबाल के मुहावरे की)। गीता तक इस मामले में बहुत यथार्थवादी है। वह हमें साफ चेताती है कि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तेदेवेत्तरोजनः/स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते'। समाज के श्रेष्ठ कहे-माने जाने वाले लोग जैसा आचरण करेंगे, इतर जन उनका अनुकरण करेंगे। यह अगर तब भी सच था, जब सचमुच का 'समाज' था तो, आज की तारीख में तो यह और भी दुर्दांत सच है जब सार्वजनिक आस्थाओं से प्रेरित 'समाज' तेजी से विघटित हो रहा है और उसकी जगह नाम-रूपहीन 'जनता' लेती जा रही है। गांव नष्ट हो रहे हैं : शहरों की अपसंस्कृति उन्हें तेजी से अपनी चपेट में ले रही है। पंचायत-व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के सरकारी उपक्रम एकदम विपरीत और अनिष्ट फल दे रहे हैं। ऐसे में तथाकथित श्रेष्ठों या प्रबुद्धजनों के संक्रामक प्रभाव की न तो अनदेखी की जा सकती है, न उनके प्रति वैसा बुद्धिविरोधी रुख अपनाया जा सकता है जैसाकि भारतीय संस्कृति के राजनीतिक झंडाबरदार अपनाए हुए हैं। उनमें न तो बचे-खुचे 'समाज' के हृदय को स्पर्श करने लायक सांस्कृतिक विवेक और मात्रा-ज्ञान है, न उन अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उखड़े हुए परोपजीवी बौद्धिकों को ही खुले मैदान में ललकारने का माद्दा है, जो घुन की तरह इस देश और समाज को लगे हुए हैं।

●

एक जमाना था जब कवियों-साहित्यिकों से सर्वत्र एक विशेष 'ज्ञान', विशेष अंतर्दृष्टि की आशा हर समाज करता था। उनकी वह आशा फलीभूत भी होती थी। जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं उसके निर्माण में कवियों-साहित्यकार मनीषियों की क्या भूमिका है, कहने की जरूरत नहीं। सारे के सारे रोल-मॉडल्स उन्हीं के गढ़े हुए हैं। धर्म-संस्थापना सरीखा कार्य तक—जैसा कि हमने शुरू में ही संकेत किया, उनके द्वारा संपन्न हुआ। क्या आज भी हमारे आधुनिक कवि और साहित्यकारों की भारतीय समाज के भीतर वैसी ही पैठ और वैसा ही प्रभाव है जैसा अभी हाल भक्तियुग तक रहा? इसका गूंजभरा सकारात्मक प्रत्युत्तर देना कठिन होगा। कारणों में जाने का यहां न अवकाश है, न औचित्य।

बॉदलेर की अंतरंग डायरी पढ़ते हुए उसी के निमित्त से ये बातें उठीं। बॉदलेर प्रतीकवादी काव्यधारा के अग्रणी कवि थे, जिनका ठेठ आधुनिक कविता के मुहावरे को गढ़ने में बहुत बड़ा योगदान सभी स्वीकारते हैं। इस कलिकाल में—घोर वैज्ञानिक युग में जब सार्वजनिक रूप से प्रभावी विश्वासों का आधार बुरी तरह डगमगाया हुआ है, प्रबुद्धजनों के बीच धर्म और धर्माचार्यों की साख भी गिरी हुई है, ऐसी परिस्थिति और परिवेश में—धार्मिक संवेदना और समझ का नवोन्मेष

भी उन्हीं रचनात्मक स्रोतों से संभव है जो कलि-मल को अपनी निष्कवच और वेध्य संवेदना से सर्वाधिक झेलते हैं और जिन्हें जगत्गति भी सबसे ज्यादा और सबसे पहले व्यापती है। बॉदलेर के विश्वविख्यात काव्य-संग्रह का नाम ही उसका परिचय था—'फ्लार्स ऑव ईविल'। जो अपने समय के असत का, 'ईविल' का साक्षात कर सकता है, उसी की सत्-चित् वेदना भी वह काव्य-सत्य उचार सकती है जो मनुष्य को आत्म-ग्लानि और आत्मावसाद से उबारने में मददगार हो। मन करता है, अब आगे अपनी तरफ से कुछ भी टिप्पणी न की जाए। बस, केवल इस पिछली शताब्दी को किंतु अद्यावधि जीवंत और प्रभावकारी कवि-प्रतिभा के वेदन-तंत्र को ही बोलने दिया जाय। तो, लीजिए बॉदलेर के 'इंटीमेट जर्नल्स' की दो-एक और बातें। हिंदी बुलवाना—वह भी ऐसे प्रतिभावान विदेशी कवि से, बहुत आसान तो नहीं है, पर काम तो चलाना ही पड़ेगा। कवि केवल अपनी संस्कृति का बंदी नहीं होता, संस्कृतियों के आरपार भी उसकी बात बोलती है।

एक—'पुरोहित और धर्माधिकारी दरअसल उसी सर्जक कल्पना-शक्ति के सेवक और पुजारी हैं जो काव्य का स्रोत है।'

दो—'जवानी के दिनों में जीवन-ऊर्जा का अपव्यय आवारागर्दी में थोड़ा-बहुत होता ही है। किंतु वयस्क बुद्धि का, परिपक्व भाव-बोध का तकाजा यही है कि इस छितराव-बिखराव की जगह जीवन-ऊर्जा का रचनात्मक संकेंद्रण किया जाए। प्रेम एक उदार भावना (वेश्यावृत्ति) से उत्पन्न भले होता हो, किंतु जल्द ही दूसरे पर कब्जा करने की—अर्थात् स्वामित्व की लिप्सा के वशीभूत होकर उसका भ्रष्ट और विकृत हो जाना अवश्यंभावी है।'

तीन—पतन (Fall) का मिथक क्या है? यदि यह द्वैत को प्रश्रय देना नहीं है, तो यह मानवजीव का पतन कैसे हो गया? यह तो ईश्वर का ही पतन हुआ। उस दशा में सृष्टि के होने का अर्थ ही क्या अच्युत परमात्मा की च्युतात्मन स्थिति नहीं है?

यहां पर यह टिप्पणी किए बिना रहा नहीं जा रहा कि सामान्यतः ख्रिस्ती समुदाय का कोई सदस्य यहां तक सोचने का जोखम नहीं उठा सकता। जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का तो विचार ही वहां निषिद्ध है। सच्चा कवि ही ऐसा जोखम उठा सकता है : इसीलिए वह अपनी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी उसका अतिक्रमण करता है—अपने स्वभाव-स्वधर्म से ही। यही उस संस्कृति के लिए भी और मानवजाति के लिए भी उसकी विशेष महत्ता का मर्म है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

हिंसा की जननी : कुंठा और हताशा

□ सुरेश पंडित □

मातहत अफसर बॉस को पलटकर कुछ नहीं कह सकते, इसलिए वे बाबुओं को झाड़ते हैं। बाबू चपरासियों को फटकारते हैं। चपरासी अपनी बीवियों को, बीवियां बच्चों को और बच्चे अपने खिलौनों पर गुस्सा उतारते हैं, उन्हें तोड़ डालते हैं। इस तरह ऊपर से चला क्रोध एक-एक सीढ़ी नीचे उतरता जाता है और उस प्राणी को शिकार बनाता जाता है जिसका कोई कसूर नहीं होता। परंतु इस क्रोध के उन्माद में भी मनुष्य यह ध्यान रखता है कि वह उसे ही अपना शिकार बनाए जो उलटकर बदला लेने लायक न हो। अंत में यह शृंखला वहां जाकर खत्म होती है, जहां मनुष्य का शिकार जीवित प्राणी न होकर निर्जीव हो जाता है। जैसे आदमियों द्वारा दरवाजे पीटना, औरतों द्वारा बर्तन पटकना या बच्चों द्वारा खिलौने तोड़ना आदि।

पूंजी और हिंसा में चोली-दामन का नाता है, बल्कि यह कहना उचित होगा कि हिंसा पूंजी का आदिम स्वरूप है। उस जमाने में, जब पैसा नाम की कोई ऐसी वस्तु अस्तित्व में नहीं आई थी, जिसे मनुष्य अपनी संपत्ति या उपलब्धि बताकर गर्वान्वित हो सके, तब उसने यह खोज निकाला था कि प्रकृतिजन्य आपदाओं से पार न पा सकने के कारण उपजे नपुंसक क्रोध को उसके मूल संदर्भ से काटकर संचित कर लेना भी उसके गौरव में वृद्धि कर सकता है। इस संचित क्रोध का उपयोग उसने उन निरीह वन्य प्राणियों का आखेट करने में शुरू किया, जो किसी भी क्षेत्र में उसके प्रतिद्वंद्वी नहीं थे। इस प्रकार अदम्य प्रकृति के अनंत अत्याचारों से लोहा लेने की अक्षमता से उपजी कुंठा ने जिस निर्वीर्य क्रोध को जन्म दिया, उसे वन प्रांतर में निश्शंक विचरते पशुओं का वध करके उसने हिंसा में रूपांतरित कर दिया। वास्तव में आदिम काल से, कुंठित-हताश मनुष्य अपने से दुर्बल प्राणियों पर क्रोध प्रदर्शित करते चले आ रहे हैं और यह अनुप्रेषित क्रोध (रिडायरेक्टेड एंगर) हिंसा में बदलकर पीढ़ी दर पीढ़ी दुर्बल से दुर्बलतर की ओर बढ़ता चला आ रहा है।

कंपनी का बॉस बोर्ड के डायरेक्टरों से नाराज होता है, लेकिन उन पर अपना गुस्सा नहीं उतार सकता तो वह अपने मातहतों की खबर लेता है। मातहत अफसर बॉस को पलटकर कुछ नहीं कह सकते, इसलिए वे बाबुओं को झाड़ते हैं। बाबू चपरासियों को फटकारते हैं। चपरासी अपनी बीवियों को, बीवियां बच्चों को और बच्चे अपने खिलौनों पर गुस्सा उतारते हैं, उन्हें तोड़ डालते हैं। इस तरह ऊपर से चला क्रोध एक-एक सीढ़ी नीचे उतरता जाता है और उस प्राणी को शिकार बनाता जाता है जिसका कोई कसूर नहीं होता। परंतु इस क्रोध के उन्माद में भी मनुष्य यह ध्यान रखता है कि वह उसे ही अपना शिकार बनाए जो उलटकर बदला लेने लायक न हो। अंत में यह शृंखला वहां जाकर खत्म होती है, जहां मनुष्य का शिकार जीवित प्राणी न होकर निर्जीव हो जाता है। जैसे आदमियों द्वारा दरवाजे पीटना, औरतों द्वारा बर्तन पटकना या बच्चों द्वारा खिलौने तोड़ना आदि।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि क्रुद्ध व्यक्ति को गुस्सा उतारने के लिए कोई पात्र ही नहीं मिलता तब गुस्सा उलटकर स्वयं व्यक्ति को ही खाने लगता है। व्यक्ति अपने ऊपर ही हिंसा करने लगता है—अपने बाल नोचना, गालों पर थप्पड़ मारना और दीवार से सिर टकराना आत्महिंसा की ही निशानी है। इसका अंत आत्महत्या में होता है। तभी तो मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री कहते हैं कि युद्धकाल में आत्महत्या की दर शांतिकाल की तुलना में कम होती है। शांतिकाल में हत्या या आत्महत्या का रुझान समाज में बढ़ जाता है।

अनुप्रेषित क्रोध प्रायः उन लोगों को अपना शिकार बनाता है जो निरपराध होते हैं। यदि हम अपने चारों और

फैली हिंसा को समग्रता से देखें तो पता लगेगा कि अधिकतर आक्रामकता के कार्य इसी अनुप्रेषित क्रोध की अभिव्यक्ति होते हैं। पत्नी या बच्चों को पीटना, बहुओं को यातना देना या जलाना, बलात्कार करना, पशुओं के प्रति क्रूरता दिखलाना, वस्तुओं को तोड़-फोड़ करना, सांप्रदायिक दंगे और आत्महत्या आदि ऐसे उदाहरण हैं जिनमें हिंसा का पात्र किसी अन्य व्यक्ति के अपराध की सजा भोगता है। इन कृत्यों के आमतौर पर जो बाहरी कारण बताए या गिनाए जाते हैं, जैसे सांप्रदायिक हिंसा के पीछे राजनीतिक, बलात्कार के पीछे सैक्स की दुर्दांत भूख और अधीनस्थों के अपमान के पीछे उनका बदतमीज, कामचोर होना आदि। लेकिन सतह के नीचे यदि गहराई में झांक कर देखें तो व्यक्ति के अवचेतन में बैठी हताशाजन्य कुंठा ही इनकी एकाकी कारक होती है।

कुछ प्रकार के क्रोध अनुप्रेषित नहीं भी होते, जैसे बराबर वालों में किसी को लेकर पैदा हुआ गुस्सा देर-सबेर आसानी से शांत हो जाता है, लेकिन गैर बराबरी वालों में इसका शांत होना मुश्किल हो जाता है। कभी-कभी तो यह पीढ़ी दर पीढ़ी चल निकलता है। पुश्तैनी झगड़े इसी का परिणाम होते हैं। परंपरागत क्रोध की जड़ें सामाजिकता में पसरी रहती हैं, अर्थात् उलझी हुई सामाजिक संरचनाएं हताशाओं को संचित कर दुर्बलतर प्राणियों की ओर क्रोध को अनुप्रेषित करती हैं। कभी तो उसी दिन पैदा हुई हताशा की प्रतिक्रिया हिंसात्मक विस्फोट के रूप में सामने आ जाती है, कभी यह किसी के द्वारा किए गए उस अनुचित व्यवहार का प्रतिकार भी हो सकती है जिसे न किसी ने कभी देखा हो और न याद रखा हो।

इसलिए यह बिल्कुल जरूरी नहीं है कि आरोपों का दायरा पत्नी तक ही सीमित रहे। वास्तव में तो स्त्री-पुरुष दोनों ही इस मामले में कम नहीं होते। दरअसल अनुप्रेषित क्रोध का शिकार साथी इतना बड़ा या समर्थ तो होना ही चाहिए कि वह शिकारी को लाभ पहुंचा सके। उससे पलटकर थोड़ा बहुत प्रतिवाद भी कर सके, ताकि शिकारी को उस पर आक्रमण करने, टूट पड़ने का बहाना मिल जाए। लेकिन वह इतना समर्थ भी न हो कि उसे पराजित ही कर दे। जैसे एक पत्नी अपने पति को विभिन्न प्रकार के लाभ पहुंचाती है, लेकिन वह उससे किसी भी मामले में बढ़कर नहीं होती। इसलिए उससे क्रूरता बरतना खतरे से खाली होता है। वह प्रतिवाद करती है, लेकिन वह प्रतिवाद इतना कमजोर होता है कि पति के क्रोध को दबाने की बजाय उकसा देता है। यही मनोविज्ञान अधिकतर परिवारों में पत्नी के प्रति हिंसा का कारण होता है।

व्यक्ति का मनोविज्ञान जब समूह के मनोविज्ञान में बदलता है तो सांप्रदायिक दंगों, अल्पसंख्यकों पर अत्याचारों, दलितों पर उत्पीड़नों और स्त्रियों के साथ बलात्कारों की दास्तान बन जाता है। इन सब उपक्रमों के शिकार वे वर्ग होते हैं जो संख्या में कम, शक्ति में हीन और राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक रूप से दुर्बल होते हैं। इन उत्पीड़क-उत्पीड़ित वर्गों के बीच कुछ ऐसी जन्मजात भिन्नताएं होती हैं, जिनका अतिरंजित प्रचार-प्रसार करके उत्पीड़क अपने शिकार से लड़ने के बाद अपने कर्म को न्याय संगत ठहराता है।

नृतत्त्व विज्ञानी बताते हैं कि 25 हजार वर्ष पहले अर्थात् हिम युग के बाद इस पृथ्वी पर दो प्रकार के मानव प्राणी रहते थे—क्रोमेग्नोन और नीएंडर्थल। ये दोनों ही उच्च विकसित भाषा-शैली व तात्कालिक आवश्यकतानुरूप औजार बनाने की प्रौद्योगिकी के भलीभांति जानकार थे। लेकिन आज अर्थात् 25 हजार साल बाद इस विवेकाश्रयी मानवतावादी दुनिया में जहां बाघों और व्हेल मछलियों की आखिरी खेप दिखाई दे रही है, यह पृथ्वी केवल हम जैसे मानव प्राणियों की नस्ल का आवास स्थल बन कर रह गई है। आखिर नीएंडर्थल मानव प्राणी कैसे, कहां चले गए? जब इसकी खोजबीन की जाती है तो पता लगता है कि आवश्यकता से अधिक मानवीय होने के कारण वे हमारे पूर्वजों की असुरक्षा व हताशा से उत्पन्न क्रोध का शिकार हो गए। जाहिर है जिस प्राणी में इस मनुष्य की श्रेष्ठता को स्वीकार करने और उसके आश्रय में आत्म-समर्पण कर देने की योग्यता रही, उसे ही यहां सुरक्षित जीवन जीने का अभयदान मिला। यही कारण है कि पुरुष की सबसे बड़ी प्रतिद्वंद्वी स्त्री ने उसकी समझौते की सभी शर्तों को मान लिया। इसलिए उसे नीएंडर्थल मानवों की तरह नष्ट हो जाने के खतरे का सामना नहीं करना पड़ा। एक अन्य कारण यह भी था कि वह मनुष्य के बच्चों की मां बनकर उसके वंश को चला सकती थी। लेकिन इतना सब कुछ करने पर भी वह हमेशा उस स्थिति में रही है कि पुरुष द्वारा असमानता के आधार पर निर्मित शक्ति और हिंसा के साम्राज्य का सशक्त विकल्प बन सके। यह विकल्प स्पष्ट है शारीरिक बल न होकर दया, करुणा, ममता आदि गुणों से भरपूर साम्राज्य का हो सकता है। इसलिए दोनों के बीच अंतिम या शाश्वत समझौता यह रहा कि असमानता के आधार पर निर्मित और शासित हिंसा की शक्ति का साम्राज्य कायम रहे और इसकी एवज में स्त्री को सामाजिक, आर्थिक रूप से सुरक्षित, लेकिन पुरुष के अधीनस्थ रहने और घर गृहस्थी सम्हालने का

दायित्व दे दिया जाए। इस घर में जितनी अच्छी तरह वह स्वयं को समायोजित कर अपने अहम् व द्वंद्व, त्याग व समर्पण में रूपांतरित कर ले उसे प्यार-मोहब्बत का नाम दे दिया जाए।

असल में स्त्री के सामने दो ही रास्ते रहे हैं। वह या तो पुरुषवत् बनकर पुरुष को उसके ही मैदान में चुनौती दे और निरंतर संघर्ष करते हुए उसके हाथों मौत के घाट उतर जाए या शरण में रहकर घरेलू-पालतू बन जाए और द्वंद्व-रहित जीवन जीए व विवाहजन्य प्रेम और उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त संतानों के पालन का आनंदोपभोग करे। प्रत्येक शक्तिशाली वर्ग, जाति या संप्रदाय भी यही चाहता है कि ताकत में उससे कमतर लोग उसके वर्चस्व को स्वीकार करें और बदले में शांतिपूर्वक सुरक्षित जीवन बिताएं। लेकिन जब अल्पसंख्यक, दलित या अन्य पिछड़े लोग उनकी दादागीरी को मानने से इन्कार करते हैं तो सांप्रदायिक, जातीय या अन्य प्रकार के दंगे होते हैं और निजी क्रोध को सामूहिक हिंसा बनकर खुले में खेलने का मौका मिल जाता है।

अगर आप यकीन करते हैं कि दूसरे आप से विद्या, बुद्धि, धन या शारीरिक क्षमता में कम हैं तो निश्चय ही आप असमानता के विचार को स्वीकार करते हैं और कहीं कभी यह महसूस करते हैं कि कुछ लोगों के मुकाबले आप भी कमजोर हैं, बराबर नहीं हैं। अमरीका या इंग्लैंड के गोरे लोग अश्वेतों या भूरे लोगों से परहेज करते हैं तो वे भी अपने से नीचे वालों से नफरत करते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति या समुदाय जितना अपने से उच्चतर व्यक्तियों या समुदायों से अपमानित-प्रताड़ित होता है उतना ही उसका क्रोध संचित हो अनुप्रेषित होने के लिए उद्यत रहता है और जब उसे निकालने का कोई पात्र नहीं मिलता तो बेचारी औरत की शामत आ जाती है।

इसलिए यह कोई हैरान होने की बात नहीं है कि हिंदुस्तान के बहुसंख्यक प्रभावशाली वर्ग की मानसिकता भी निराशा व असुरक्षा से ग्रसित है। क्योंकि उसे पश्चिमी दुनिया का जीवन अधिक समृद्ध, सुख-सुविधायुक्त लगता है। अभी तीन-चार साल पहले तक हम इस खुशफहमी में जी रहे थे कि हम स्वाधीन हैं, हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा जनतंत्र है, कि गरीबी मिटाकर हम बहुत जल्दी विकसित देशों के समकक्ष पहुंच जाने वाले हैं। लेकिन नई भूमंडलीय अर्थव्यवस्था के सदस्य बनते ही हमारा यह सपना चूर-चूर हो गया है। अब उन्नत देशों के मुकाबले हमें हमारी हीनता कचोटने लगी है। इस कचोट से पैदा हुए क्षोभ का पहला शिकार बना अल्पसंख्यक सिख समुदाय और दूसरी बाबरी मस्जिद। यह कैसी विसंगति है कि सिख और मुसलमान दोनों हमारे इतिहास के साझीदार रहे हैं, दोनों ने हमारी सभ्यता को प्रभावित किया है और हमारी संस्कृति को समृद्ध किया है, उन्हें ही हमने अपने अनुप्रेषित क्रोध का शिकार बनाया। लेकिन उन अंग्रेजों को, जिन्होंने हमारे इतिहास को बिगाड़ा और साझा संस्कृति को नुकसान पहुंचाया, हमने हरदम अपना मित्र बनाने की कोशिश की है। इसी प्रकार उस चीन से हम समझौता-वार्ता चला रहे हैं जो हमारा कुछ इलाका आज भी हड़पे बैठा है। इसका कारण स्पष्ट तौर पर यही है कि ये हमसे अधिक बलशाली हैं इसलिए हम इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। हां, इनसे मिलने वाले अपमान का बदला हम अपने अल्पसंख्यकों से अवश्य ले सकते हैं, सो ले रहे हैं।

हमारे देश का वर्तमान परिदृश्य अब अधिक जुगुप्साजनक हो चला है। नई अर्थव्यवस्था के तहत यहां के व्यापारियों-व्यवसायियों को पश्चिमी लोगों से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जा रहा है। इंपोर्टेड का सिक्का पहले से ही यहां के बाजार में प्रीमियम के साथ चल रहा है। अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का आगमन स्थानीय व्यवसाय को और दयनीय स्थिति में पहुंचाएगा। इनकी अपमानजनक शर्तों को मानकर जो लोग इनकी दलाली करेंगे वे अपने से नीचे वालों का स्वाभिमान के साथ जीना हराम करके रहेंगे। इस प्रकार यह नई अर्थव्यवस्था जिस हताशाजन्य क्रोध को जन्म देगी, उसकी आग निश्चय ही सांप्रदायिक सद्भाव, सामाजिक सहयोग, जातीय सामंजस्य और स्त्री-पुरुष समानता को झुलसाएगी। क्योंकि अनुप्रेषित क्रोध से पैदा होने वाली हिंसा को बलि के लिए कोई न कोई तो चाहिए ही। ❖

स्वदेशी की भावना का अर्थ है हमारी वह भावना, जो हमें दूर के क्षेत्र को छोड़कर अपने समीपवर्ती प्रदेश का ही उपयोग और सेवा करना सिखाती है। उदाहरण के लिए, इस परिभाषा के अनुसार धर्म के संबंध में यह कहा जाएगा कि मुझे अपने पूर्वजों से प्राप्त धर्म का ही पालन करना चाहिए।

—महात्मा गांधी

जन्म कल्याणक की 26वीं शताब्दी

महावीर को सीमा में बांधने का प्रयास न हो—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

भगवान महावीर के जन्म कल्याणक की 26वीं शताब्दी के शुभावसर पर समारोहों की शृंखला इस वर्ष के अप्रैल माह से शुरू हुई। देश भर में ये समारोह अलग-अलग स्तरों पर वर्ष भर मनाए जाने की आशा है। इन समारोहों से भगवान के सिद्धांतों की चर्चा एक बार पुनः राष्ट्रव्यापी स्तर पर हो सकेगी। महावीर के सिद्धांतों की चर्चा का प्रथम प्रभावी अभिक्रम आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य में गंगाशहर में हुआ। पहली अप्रैल से सात अप्रैल तक भगवान महावीर जन्म कल्याणक समारोहों की शृंखला में जहां 'अनेकांत; सिद्धांत और व्यवहार' जैसे विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी हुई, वहीं महावीर का शिक्षा दर्शन, महावीर का अपरिग्रह दर्शन, कर्मणा जाति दर्शन और विश्व दर्शन जैसे विषयों पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विशेष उद्‌बोधन हुए। अहिंसा शोभा यात्रा और छह अप्रैल (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) को जन्म कल्याणक समारोह का भव्य आयोजन भी गंगाशहर में हुआ। इस मुख्य समारोह में जहां बीकानेर परिक्षेत्र के समग्र जैन समाज (दिगंबर व श्वेतांबर) ने हिस्सा लिया वहीं 'अनेकांत; सिद्धांत व व्यवहार' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में देश के सुदूर क्षेत्रों से चुनिंदा विद्वानों ने भाग लिया। यह संगोष्ठी जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं ने आयोजित की, वहीं जन्म कल्याणक समारोह जैन महासभा, बीकानेर की ओर से संपन्न हुआ। इन सभी समारोहों में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमणजी, साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी का सान्निध्य प्राप्त हुआ, वहीं विभिन्न क्षेत्रों के मान्य जनों ने भी हिस्सा लिया।

छह अप्रैल के जन्म कल्याणक समारोह में सांसद व राजस्थान प्रदेश कांग्रेस की अध्यक्ष सुश्री गिरिजा व्यास ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में महावीर के सिद्धांतों को वर्तमान परिस्थिति में प्रासंगिक बताते हुए जैन धर्म को समदृष्टि व समन्वय का धर्म बताया।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने उद्‌बोधन में कहा कि महावीर स्वयं कभी जैन नहीं रहे, हां! हम उनके अनुयायी अवश्य जैन बन गए। महावीर के चिंतन को ठीक से समझने की दृष्टि से आचार्यश्री ने कहा कि मुक्ति किसी संप्रदाय में जाने से नहीं वरन् आत्मा की पवित्रता से होगी। उनका कहना था कि महावीर को किसी निश्चित सीमा में बांधने का प्रयास नहीं होना चाहिए। श्रमण शब्द की सविस्तार व्याख्या करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसे समानता, पुरुषार्थ और अहिंसा के रूप में निरूपित किया और कहा कि चाहे हम महावीर की स्तुति-वंदना नहीं करें, पर इन सिद्धांतों को संकल्प रूप में ग्रहण कर लें तो महावीर के सिद्धांतों के प्रति प्रतिबद्धता स्वतः स्थापित हो जाएगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मानना था कि महावीर के क्रोध-विजय, शांति-विजय और उपशम को भली प्रकार समझ लिया जाए तो पूरी दुनिया का आज जो रूप दिखाई देता है वह बदल सकता है।

इस अवसर पर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने महावीर के तपोयोग और अनाहार साधना का स्मरण करते हुए उनकी समत्व योग साधना और स्वाध्याय योग साधना का विश्लेषण किया। युवाचार्यश्री ने बताया कि महावीर ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् भी स्वाध्याय योग का कठिन अभ्यास किया था। साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने सामुदायिक चेतना, भावनात्मक चेतना और सहिष्णुता पर आधारित संघीय जीवन शैली व सामाजिक जीवन व्यवस्था स्थापित करने पर बल दिया। आदर्श विद्या मंदिर के बालकों के मंगलगीत, मुमुक्षु बहिनों के समूह गीत व मुनिश्री सुखलालजी के महावीर दर्शन पर प्रारंभिक वक्तव्य से समारोह शुरू हुआ। कार्मिक मंत्री डॉ. बुलाकीदास कल्ला व राज्य के दो पूर्व वित्तमंत्री और वर्तमान में राज्य विधानसभा के सदस्य सर्वश्री मानिकचन्द सुराणा व चंदनमल बैद ने भी अपने विचार रखे।

नोखा के विधायक श्री रेंवतराम पंवार, जैन महासभा के श्री धर्मपाल जैन, विजयकुमार कोचर, तेरापंथी सभा भीनासर के श्री सुपारसमल दूगड़ सहित सर्वश्री जयचंदलाल सुखाणी, कन्हैयालाल बोथरा, अशोक राखेचा, घेवरचन्द मुसरफ, सुमेरचन्द जैन, सूरजराज जैन, नथमल सींघी, राजेन्द्र सेठिया आदि ने भी अपने विचार प्रकट किए। समणीवृंद की ओर से मनोहारी संगीतमय प्रस्तुति हुई। मुनिवृंद व साध्वीवृंद की ओर से भी भावभरे गीत प्रस्तुत हुए।

इस मौके पर मुनिश्री धनञ्जयकुमारजी ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा लिखी व नव प्रकाशित चार पुस्तकें आचार्यवर को अर्पित कीं। साध्वी शुभ्रयशा ने अपनी शोधकृति और साध्वी कंचनप्रभा व साध्वी मंजुरेखा की पुस्तकें श्री सोहनलाल सेठिया ने व पवनदेवी जूनीवाल ने भी अपनी पुस्तक आचार्यश्री को अर्पित की। इस कार्यक्रम का संचालन श्री लूणकरण छाजेड़ ने किया और आभार श्री महेन्द्र जैन ने व्यक्त किया। इस मौके पर अतिथि जनों को साहित्य भी भेंट किया गया।

—प्रस्तुतकर्ता : भवानी सोलंकी

अनुभूति

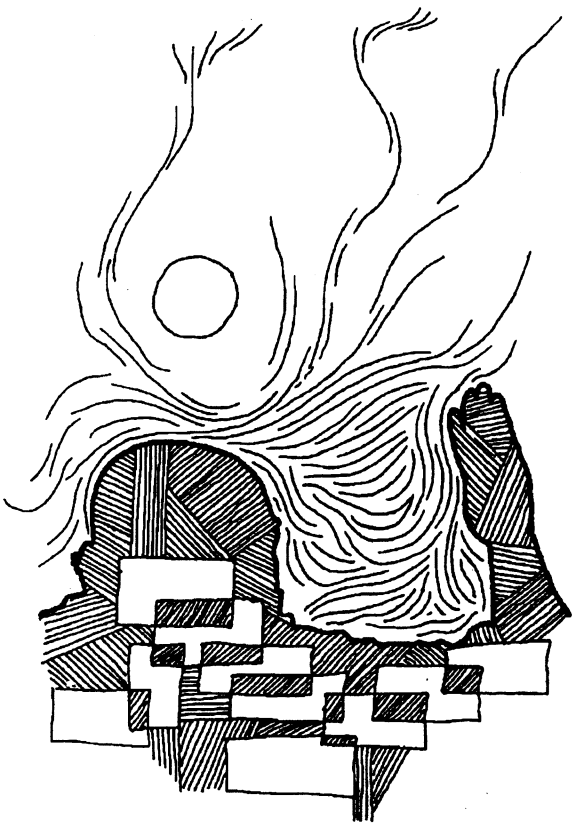

योर्नेन का विदागीत

चांदनी के गीत मैंने बहुत गाए :
और वह गाया नहीं जाता।
अब सुनो निर्वात रजनी में
अचंचल चीड़वन में
गूंजता निश्शब्द
सन्नाटा।

—योर्नेन
(जापानी ज़ेन कवयित्री)
(रूपांतर : **अज्ञेय**)

*योर्नेन उन्नीसवीं शती की एक रूपवती जापानी कवयित्री थी जिसने दीक्षा लेने के लिए स्वयं तपे हुए लोहे से अपना चेहरा झुलसा लिया क्योंकि ज़ेन गुरु सुंदरी को शिष्या नहीं स्वीकार करते थे। छयासठ वर्ष की आयु में मृत्यु निकट जानकर उसने एक छोटी कविता लिखी थी।

समाधि : चैतन्य का अनुभव

□ आचार्यश्री महाप्रज्ञ □

न जाने कितने लोग आते हैं और पूछते हैं—आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा? आत्मा का दर्शन कैसे होगा? कुछ लोग पूछते हैं—'परमात्मा का साक्षात्कार कैसे हो? परमात्मा का दर्शन कैसे हो?' कोई अंतर नहीं है। आत्मा का दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है और परमात्मा का दर्शन ही आत्मा का दर्शन है। आत्मा के साक्षात्कार और परमात्मा के साक्षात्कार में कोई अंतर नहीं, केवल भाषा का अंतर हो सकता है। बड़ी जिज्ञासा है परमात्म-दर्शन की, आत्म-दर्शन की। किंतु जो व्यक्ति अपने शरीर का ही दर्शन नहीं करता, वह आत्मा का दर्शन कैसे करेगा? जिसने दरवाजा ही नहीं देखा, वह भीतर का दर्शन कैसे करेगा, भीतर में कैसे देखेगा? जिसने सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयत्न ही नहीं किया—वह और कुछ क्या करेगा, आगे कैसे चढ़ेगा?

मनुष्य अंधकार से दूर होकर प्रकाश में जाना चाहता है। अंधकार कभी प्रिय नहीं रहा। प्रकाश सदा प्रिय रहा है और मनुष्य ने अपने जीवन में अधिकतम प्रकाश की दिशा में सदा प्रस्थान किया है। अध्यात्म की साधना प्रकाश की साधना है।

मनुष्य का नाड़ी-संस्थान जितना शक्तिशाली है उतना किसी भी प्राणी का नहीं है। जितने प्राणी हैं उन सबमें मनुष्य को अधिक शक्तिशाली नाड़ी-संस्थान मिला है। इसलिए मनुष्य ही अंधकार से प्रकाश की ओर जा सकता है। पशु नहीं जा सकता, क्योंकि पशु का नाड़ी-संस्थान उतना कार्यक्षम नहीं है, शक्तिशाली नहीं है। कहा जाता है, देवता भी मनुष्य होना चाहते हैं, मनुष्य होकर साधना करना चाहते हैं। ऐसा क्यों चाहते हैं? उन्हें भी वह नाड़ी-संस्थान प्राप्त नहीं है जिसके माध्यम से साधना की जा सके, विशिष्ट आराधना और नई उपलब्धियां प्राप्त की जा सकें।

मनुष्य के नाड़ी-संस्थान में ज्ञान की शक्ति भी है और कार्य की शक्ति भी है। उसके ज्ञानवाही तंतु इतने शक्तिशाली हैं कि वह बड़ा ज्ञान उपलब्ध कर सकता है। हमारा ज्ञान बहुत छोटा ज्ञान है। हम मानते हैं कि आज का युग वैज्ञानिक युग है और इसमें ज्ञान का बहुत विकास हुआ है, किंतु हमारे नाड़ी-संस्थान में ज्ञान के अवतरण की जितनी क्षमता है, उसके अनुपात में बहुत छोटा ज्ञान आज मनुष्य को उपलब्ध है। मनुष्य अतींद्रिय ज्ञान तक पहुंच सकता है। मनुष्य अतींद्रिय चेतना को जगा सकता है और इंद्रियों की सीमाओं को लांघकर उन सूक्ष्म शक्तियों को देख सकता है, जिन्हें इंद्रियां कभी भी नहीं देख पातीं। वह इंद्रिय, मन और बुद्धि—इन सारी सीमाओं को लांघकर शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है। समाधि का बहुत बड़ा फल है—अतींद्रिय चेतना का जागरण।

क्षमता का उपयोग कितना?

हमारे नाड़ी-संस्थान में कार्य करने की बड़ी क्षमता है। मनुष्य इतना बड़ा कार्य कर सकता है जितना कोई नहीं कर सकता। यदि शारीरिक बल की दृष्टि से देखें तो मनुष्य बहुत कमजोर पड़ता है। एक शेर, बाघ, हाथी, बैल या भैंसा सामने आ जाए तो मनुष्य की शक्ति बहुत कम होती है, एक कुत्ता भी आदमी को भगा देता है। आदमी की शारीरिक शक्ति निश्चित ही कम होती है, किंतु नाड़ी-संस्थान का बल ज्यादा होता है। उसी बल के आधार पर आज हाथी भी मनुष्य की कैद में है। मनुष्य हाथी पर सवारी भी करता है और हाथी से भार भी ढोता है। बाघ, चीते, शेर, जैसे भयंकर जानवर भी मनुष्य के बंदी बने हुए हैं। नाड़ी-शक्ति के आधार पर उसकी बुद्धिजा-शक्ति और कर्मजा-शक्ति दोनों इतनी हैं कि वह जो चाहे कर सकता है। वह किसी भी प्राणी की नाक में नकेल डाल सकता है। कोई भी उसकी शक्ति से परे नहीं है। हमारे नाड़ी-संस्थान में ज्ञान और कार्य की क्षमताएं बहुत अधिक हैं और जितनी क्षमता है, उसका बीस प्रतिशत उपयोग मात्र हम

कर पा रहे हैं, अस्सी प्रतिशत क्षमता तो अनुपयोगी ही पड़ी रहती है। सामान्य आदमी नाड़ी-संस्थान की शक्ति की दस-पंद्रह प्रतिशत क्षमता का ही उपयोग करता है और यदि बीस-पच्चीस प्रतिशत उपयोग कर लेता है तो वह बौद्धिक क्षेत्र में और कर्म के क्षेत्र में बड़ा आदमी बन जाता है। कल्पना करें—दस-पंद्रह प्रतिशत क्षमता का उपयोग करने वाला क्या सचमुच न्याय करता है अपने जीवन के प्रति? क्या न्याय करता है अपने नाड़ी-संस्थान के प्रति? जिसे इतनी क्षमता उपलब्ध हुई है, वह उपयोग ही नहीं कर पा रहा है और सचमुच जीवन व्यर्थ चला जाता है।

धर्मगुरु कहते हैं—जीवन सफल नहीं बना। धर्म के बिना जीवन विफल चला गया। उसका रहस्य समझें। धर्म के बिना जीवन विफल कैसे चला गया? यानी जो क्षमता मिली उसका हमने पूरा उपयोग नहीं किया। जो शक्ति मिली, उसे पूरा काम में नहीं ले सके। शक्ति सोई की सोई रह गई, उसे जागने का मौका नहीं मिला। जब आदमी सोया का सोया रह जाता है तब क्षमता समाप्त हो जाती है।

साधना का उद्देश्य

साधना का उद्देश्य है—क्षमता को जगाना। साधना का एक ही उद्देश्य है—सुप्त शक्तियों का जागरण। ज्ञान और कर्म की जो अस्सी प्रतिशत शक्तियां सोई पड़ी रहती हैं, उन शक्तियों को जगाना ही समाधि का प्रयोजन है। जब हम अपने प्रति जागरूक बनते हैं तब शक्तियां जागती हैं, अपना अनुभव करती हैं। अपने प्रति जागरूक बने बिना शक्तियों का जागरण नहीं होता। समाधि का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव। जो व्यक्ति अपने चैतन्य का अनुभव करने लग जाता है, उसकी सोई हुई शक्तियां जागने लग जाती हैं। जितना-जितना चैतन्य का अनुभव होता है, उतना-उतना शक्ति का विकास होता जाता है।

धार्मिक लोगों का उद्देश्य है—आत्मदर्शन, आत्म-साक्षात्कार। न जाने कितने लोग आते हैं और पूछते हैं—आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा? आत्मा का दर्शन कैसे होगा? कुछ लोग पूछते हैं—परमात्मा का साक्षात्कार कैसे हो? परमात्मा का दर्शन कैसे हो? कोई अंतर नहीं है। आत्मा का दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है और परमात्मा का दर्शन ही आत्मा का दर्शन है। आत्मा के साक्षात्कार और परमात्मा के साक्षात्कार में कोई अंतर नहीं, केवल भाषा का अंतर हो सकता है। बड़ी जिज्ञासा है परमात्म-दर्शन की, आत्म-दर्शन की। किंतु जो व्यक्ति अपने शरीर का ही दर्शन नहीं करता, वह आत्मा का दर्शन कैसे करेगा? जिसने दरवाजा ही नहीं देखा, वह भीतर का दर्शन कैसे करेगा, भीतर में कैसे देखेगा? जिसने सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयत्न ही नहीं किया—वह और कुछ क्या करेगा, आगे कैसे चढ़ेगा?

आत्म-दर्शन की प्रक्रिया

आत्म-दर्शन का पहला उपाय है—शरीर को देखना। जिस व्यक्ति ने शरीर को देखना नहीं सीखा, वह आत्म-दर्शन नहीं कर सकता। आप सोचेंगे, शरीर को तो रोज देखते हैं। सारा शरीर दिखाई देता है और जब इससे संतुष्टि नहीं होती है तो शीशा सामने रखकर देखते हैं। आदमकद शीशा सामने रखते हैं कि पूरा शरीर दिख जाए। यह देखना, देखना नहीं है। शरीर को देखना भी एक कला है। उसको देखने की एक विधि है। जब तक शरीर को देखने की विधि को नहीं जानेंगे, केवल चमड़ी को देख सकते हैं, रंग-रूप को देख सकते हैं, आकार-प्रकार को देख सकते हैं, बनावट को देख सकते हैं, किंतु शरीर को नहीं देख सकते। शरीर को तब देख सकते हैं जब शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करें। जो व्यक्ति शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास नहीं करता, वह शरीर को नहीं देख सकता। एक-एक अवयव पर चित्त को ले जाएं। बाहर और भीतर चित्त को टिकाएं, एकाग्र करें। शरीर के भीतर जो प्राण के प्रकंपन हो रहे हैं, जो रसायन काम कर रहे हैं, जो विद्युत काम कर रही है, उसे देखें। शरीर के भीतर कितना परिवर्तन हो रहा है—कभी जैविक-रासायनिक परिवर्तन, कभी कर्म के विपाक से होने वाले परिवर्तन, कभी सर्दी और गर्मी के कारण होने वाले परिवर्तन, कभी भोजन आदि के द्वारा होने वाले परिवर्तन—इन सबको हम देखें। इन सारे परिवर्तनों को जब तक हम नहीं देख पाते, तब तक आत्म-दर्शन की बात नहीं होती।

इस शरीर में आत्मा तो बहुत आगे है। उस पर तो न जाने कितने अवरोध जमे पड़े हैं। उन सब को देखे बिना उस सूक्ष्म सत्य को, परम सूक्ष्म सत्य को नहीं देख सकते, उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। हमें सारे दरवाजों को, सारे तालों को और सारी खिड़कियों को खोलना पड़ेगा। सब खुल जाएंगे तब आत्मा का साक्षात्कार होगा। हमारे चैतन्य के कण-कण पर, चैतन्य के प्रत्येक प्रदेश पर अनंत-अनंत कर्म के परमाणु चिपके पड़े हैं। जो चंचलता के परमाणु चिपके पड़े हैं वे हमारी चंचलता को बढ़ाते हैं। इन सारे वलयों को जब तक हम नहीं तोड़ पाएंगे और उन्हें प्रकंपित नहीं कर पाएंगे, तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होगा। आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण करना होगा। स्थूल से चलें और सूक्ष्म तक पहुंचें। आप पहले

ही क्षण में स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंच जाना चाहते हैं, यह बहुत अजीब बात है। आज ही अभ्यास शुरू किया और आज ही सूक्ष्म तक पहुंच जाना चाहते हैं। आज ही यात्रा प्रारंभ की और दूसरे क्षण में ही मंजिल तक पहुंच जाना चाहते हैं, यह संगत बात नहीं। ऐसा कभी संभव नहीं होता। हर यात्रा का एक क्रम है। वाहन चाहे कितना ही द्रुतगामी क्यों न हो, चाहे कितनी ही शक्ति से चलने वाला क्यों न हो, उसकी गति का क्रम होता है। समय लगता है। रेल को कुछ घंटे लगते हैं, वायुयान को कुछ मिनट लग सकते हैं और बैलगाड़ी हो तो और ज्यादा समय लग सकता है। एक क्रम होता है। ऐसा तो नहीं होता कि वायुयान पर अभी चढ़ें—पहले क्षण चढ़ें और दूसरे क्षण में लंदन पहुंच जाएं।

रसायन हैं घटक आवेगों के

हम शरीर को पहले देखें, शरीर का साक्षात्कार करें। शरीर में अनंत-अनंत पर्याय घटित हो रहे हैं। हजारों-हजारों परिणमन हो रहे हैं। हजारों घटनाएं घटित हो रही हैं। उनको हम जानें, देखें। आदमी हंसता है तो हमें यह पता होना चाहिए कि हंसता इसलिए है कि हंसाने वाला एक रसायन शरीर में बना है। आदमी रोता है, इसलिए रोता है कि रुलाने वाला रसायन भी शरीर में बन गया। आदमी चिंता का भार ढोता है, इसलिए ढोता है कि चिंता करने वाला रसायन भी शरीर में बन गया। हम यह न मानें कि कोई चीज खो गई है और आदमी चिंता से दब गया है। कभी नहीं होता। किसी चीज के आने से आदमी प्रसन्न नहीं होता और चली जाने से अप्रसन्न नहीं होता। हम यह मानते हैं कि कुछ मिलता है तो हर्ष होता है, सुख होता है, और पदार्थ चले जाते हैं तो हमें दुख होता है, चिंता होती है। यह सत्य पर एक आवरण है। पदार्थ के मिलने पर सुख नहीं होता और पदार्थ के चले जाने पर दुख नहीं होता। यह होता है हमारे रसायनों के कारण। एक प्रकार का रसायन बनता है।

पदार्थ मिल गया तो भी हर्ष नहीं होगा, सुख नहीं होगा। चिंता मिटेगी नहीं, शोक मिटेगा नहीं, चिंताओं का भार बना का बना रहेगा। मिल गया, फिर भी कोई परिवर्तन नहीं आएगा। पदार्थ मिला, पर मिलने के साथ-साथ मन में ऐसे विकल्प जाग गए कि जिनसे मन अधिक भारी बन गया, दुखी बन गया। ठीक इसके विपरीत पदार्थ चला गया, कोई दुख नहीं होता। यह अनुभव की बात है और बहुत बार ऐसे लोगों को देखा है कि जिनके पास लाखों की संपदा तो नहीं पर जो पांच-दस हजार रुपए थे वे भी चले गए, फिर भी प्रसन्न हैं। कहते हैं—'क्या है? श्रम किया, कमाया, चला गया। फिर श्रम करेंगे, कमा लेंगे।' बात समाप्त। दूसरी ओर ऐसे लोगों को भी देखा है जो करोड़पति हैं और सौ रुपया भी इधर-उधर हो गया तो उनकी नींद हराम हो गई। एक करोड़पति भाई मेरे पास बैठा था। उसके सौ रुपए खो गए थे। अत्यंत उदास और खिन्न था। मैंने पूछा—ऐसा क्या हो गया जो तुम इतने चिंतातुर हो? उसने कहा—महाराज! क्या करूं आदत ही ऐसी है मेरी। मैं जानता हूं, मेरे लिए सौ रुपयों का कोई मूल्य नहीं है। परंतु प्रश्न पैसे का नहीं, प्रश्न आदत का है। एक आदमी लड़ने लगा। इतनी तेज लड़ाई कर दी कि रास्ते में जाने वाले लोग इकट्ठे हो गए और बोले—'अरे भाई! क्या बात है? क्यों लड़ रहे हो?' उसने कहा—इसने मेरा एक पैसा रख लिया। अरे, इतनी छोटी बात के लिए लड़ रहे हो। उसने कहा—प्रश्न छोटी-बड़ी बात का नहीं, प्रश्न है पैसे का। पैसा, पैसा है।

प्रश्न है स्वभाव का। मनुष्य की जैसी आदत बन जाती है, वह अपनी आदत के कारण सुख पाता है और आदत के कारण ही दुख पाता है, पदार्थ के कारण सुख-दुख नहीं पाता। स्वभाव को बनाने वाले घटक, आदत का निर्माण करने वाले तत्त्व हमारे रसायन हैं। हमारे शरीर में पैदा होने वाले रसायन, हमारी ग्रंथियों से स्रवित होने वाले रसायन, हमारी आदतों का निर्माण करते हैं। जब तक हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा हमारे भीतर में होने वाले रसायनों का साक्षात्कार नहीं करते, तब तक आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा?

आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया

हम एक क्रम से चलें। स्थूल से चलें। पहले शरीर के स्थूल-कंपनों का साक्षात्कार करें, फिर शरीर के भीतर होने वाले सूक्ष्म परिणामों का साक्षात्कार करें, रसायनों का साक्षात्कार करें, शरीर को संचालित करने वाली विद्युत का साक्षात्कार करें, फिर उन सबको संचालित करने वाली प्राण-धारा का साक्षात्कार करें। जब इन सबका साक्षात्कार करते हैं तो सूक्ष्म-शरीर का साक्षात्कार होने लग जाता है और जब सूक्ष्म-शरीर का साक्षात्कार होने लगता है तो अतिसूक्ष्म-शरीर में होने वाले प्रकम्पनों का भी साक्षात्कार होने लगता है, कर्म-संस्कारों का साक्षात्कार होने लग जाता है। जब उनका साक्षात्कार होने लगता है तो फिर चैतन्य का साक्षात्कार होता है, आत्मा का दर्शन होता है। हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलें। एक प्रक्रिया के साथ चलें। छलांग की बात न करें। छलांगों से काम नहीं होगा, प्रक्रिया से होगा। हो सकता है कि सौ में एक व्यक्ति छलांग भी लगा दे, किंतु निन्यानवें व्यक्ति छलांग नहीं भर सकते। एक व्यक्ति की

छलांग से नियम नहीं बना सकते। नियम अलग होता है। मैं मानता हूं, हर घटना का नियम अलग होता है। अध्यात्म की साधना का अपना नियम है, पदार्थ की साधना का अपना नियम है। भौतिक जगत के अपने नियम हैं और अध्यात्म जगत के अपने नियम हैं। हम जिसकी सीमा में काम करें, उसके नियमों को समझें।

अपना-अपना नियम

सबका अपना-अपना नियम होता है। साधना का अपना नियम है, समाधि का अपना नियम है। समाधि का नियम है—विराग, वैराग्य। वैराग्य तब घटित होगा जब शरीर से हमारा साक्षात्कार होगा। जिस व्यक्ति ने शरीर का साक्षात्कार नहीं किया, जिस व्यक्ति ने शरीर का संवेद-दर्शन नहीं किया वह व्यक्ति वैराग्यवान नहीं हो सकता। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति उसी व्यक्ति के मन में विराग जाग सकता है जिसने शरीर में घटित होने वाली सारी घटनाओं का साक्षात्कार किया है। उस साक्षात्कार के बिना वैराग्य भी नहीं हो सकता और जब वैराग्य नहीं होता तो आत्मा का दर्शन भी नहीं हो सकता। राग का अर्थ है—पदार्थ जगत का साक्षात्कार और वैराग्य का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। दो भिन्न दिशाएं हैं। एक दिशा पदार्थ जगत की ओर, शब्द आदि विषयों की ओर जाती है और दूसरी दिशा चैतन्य की ओर जाती है। दोनों दिशाओं में जो भेद-रेखा है, उसे समझे बिना हम समाधि की बात भी नहीं कर सकते, आत्म-साक्षात्कार की बात भी नहीं कर सकते।

समाधि : साध्य या साधन

प्रश्न है कि यह समाधि साधन है या साध्य? साधन और साध्य कभी दो नहीं होते। साधन और साध्य में दूरी नहीं होती। उनमें द्वैत नहीं होता। एक अवस्था में जो साधन होता है वही दूसरी अवस्था में साध्य होता है। उपादान कर्म और कार्य दो नहीं होते। घड़ा बनता है मिट्टी का या बर्तन बनता है किसी धातु का। मिट्टी घड़े का उपादान है और घड़ा उसका कार्य है। अब यदि पूछा जाए कि मिट्टी घड़े का साधन है या साध्य है तो कहा जाएगा कि वह साधन है जब तक मिट्टी के रूप में है। जब तक मिट्टी से घड़ा नहीं बना, तब तक मिट्टी घड़े का साधन है। मिट्टी में क्रिया हुई, परिणमन हुआ, मिट्टी घड़े में बदल गई—साध्य बन गया। जो साधन था वह साध्य बन गया, जो उपादान कारण था वह कार्य बन गया। बीज पेड़ का कारण भी होता है और बीज पेड़ का कार्य भी होता है। जब तक बीज बीज था, तब तक बीज पेड़ का कारण था। बीज बोया गया, सिंचन मिला, अंकुरित हुआ, पल्लवित हुआ, पौधा बना, पेड़ बना, बीज कार्य बन गया। कारण में और कार्य में कोई द्वैत नहीं होता, एकात्म होता है। वही बीज पेड़ बन जाता है। वही मिट्टी घड़ा बन जाती है। एकात्मकता जो होती है।

समाधि साधन भी है और समाधि साध्य भी है। जब समाधि बीज के रूप में होती है, बीज के रूप में कार्य करती है तब वह साधन होती है और जब वह प्रस्फुटित होती है, समाधि साध्य बन जाती है। समाधि का पहला बिंदु है—विराग। विराग से समाधि शुरू होती है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति जितना विराग, उतनी समाधि। विराग का प्रारंभ, समाधि का प्रारंभ। विराग बढ़ा, समाधि बढ़ी। वैराग्य का पहला बिंदु समाधि का साधन है। वैराग्य के सारे मध्य-बिंदु समाधि के साधन हैं और वैराग्य का चरम-बिंदु समाधि है। प्रथम बिंदु पर समाधि साधन होती है और जब वह चरम-बिंदु पर पहुंचती है तब साध्य बन जाती है। समाधि स्वयं फलित हो जाती है, स्वयं वीतरागता बन जाती है और सब कुछ कृतकृत्य हो जाता है। समाधि के चरम बिंदु पर पहुंचने पर साध्य शेष नहीं रहता। कुछ करना शेष नहीं रहता। सब अपने आप घटित हो जाता है। हम चरम-बिंदु की बात छोड़ दें। साध्य की बात छोड़ दें। साध्य तो हमारे सामने रहेगा। वह हमारी दिशा का नियामक रहेगा। साध्य हमेशा नियामक होता है। जब साध्य सामने होता है, व्यक्ति ठीक उसी दिशा में प्रस्थान करता है। आगे चलता चला जाता है।

साधन की यात्रा

हमें साधनरूप समाधि की यात्रा करनी है। जो समाधि साधन है, हमारे काम की आज वही है। हम साधन की यात्रा करें। ध्यान-साधना का प्रयोजन है—समाधि की यात्रा, साधन की यात्रा। हम यात्रा शुरू करें वैराग्य के साथ। जितना वैराग्य होता है उतना ही हमारा अनुभव स्पष्ट होता है। वैराग्य अनेक चीजों का करने की जरूरत नहीं। त्याग की बहुत लंबी तालिका बनाने की जरूरत नहीं होती। केवल पांच ही तो हैं हमारे सामने। पांच के अतिरिक्त और किसी के प्रति हमें विराग करने की जरूरत नहीं होती। बार-बार दोहरा रहा हूं—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श। बस, सारा पदार्थ जगत समाप्त। इन पांचों के प्रति विराग की जरूरत है और छठा कोई नहीं है। वैराग्य शुरू करें। इसी वैराग्य की साधना के लिए सामायिक का, समता का और संयम का उपदेश दिया गया। शब्द आदि के जगत से अलग होने के लिए यह सारा उपदेश दिया गया। समता, संयम बहुत प्रिय शब्द हैं, किंतु

वैराग्य के बिना समता घटित नहीं होती। वैराग्य के बिना संयम घटित नहीं होता। समता, साम्य और साम्यवाद पदार्थ जगत में घटित नहीं होते। आध्यात्मिक जगत में समता की घटना घटती है तो आदमी आनंद से भर जाता है और पदार्थ के जगत में समता की घटना घटती है तो आदमी दुखी बन जाता है। मुझे एक पौराणिक कहानी याद आ रही है। एक बार इंद्र और इंद्राणी के बीच में वाद-विवाद हो गया। इंद्र ने कहा—'तुम मेरी शक्ति को नहीं जानती। मैं सबको सुखी बना सकता हूं। मैं चाहूं तो सबको दुखी बना दूं।' इंद्राणी ने कहा—'झूठा गर्व करते हो। कोई ऐसा नहीं, जो सबको सुखी बना सके।' वाद-विवाद बढ़ा।' इंद्राणी ने कहा—'आप अपनी बात को प्रमाणित करें।' इंद्र-इंद्राणी दोनों नगर में आए। राजा से मिले। जनता से मिले। कहा—'हम सबको सुखी बनाना चाहते हैं। तुम जो मांगो, वह मिलेगा।' जनता ने सुना। वह आनंद-विभोर हो उठी। एक वृद्ध व्यक्ति ने कहा—'संसार में सुख है सोना, स्वर्ण। आप हमें स्वर्ण दे दें, हम सुखी हो जाएंगे।' इंद्र ने अपने देव-बल से गांव के बाहर स्वर्ण के ढेर लगा दिए। लोग गए जितना चाहा उतना स्वर्ण ले आए। सबके पास सोना हो गया। सब एक समान हो गए। सेठ के पास भी सोने का ढेर है और नौकर के पास भी सोने का ढेर है। अब कोई नौकर नहीं रहा, कोई कर्मचारी या सेवक नहीं रहा। सेठ बैठे हैं, नौकर और मुनीम गायब। व्यापार बंद हो गया। कौन बेचे और कौन खरीदे ? राजा के सभी कर्मचारी घर पर आ गए। कोई सैनिक सेना में नहीं रहा। सब मालामाल हो गए थे। राजा अकेला, सेठ अकेला, सेठानी अकेली। कोई पानी पिलाने वाला भी नहीं बचा। रसोई कौन पकाए ? बाजार से सामान कौन लाए ? घर की सफाई कौन करे ? सबके लिए मुसीबत हो गई। सब दुखी हो गए। सारी जनता इंद्र को गालियां देने लगी। इंद्र ने सबको दुखी बना डाला। इंद्र और इंद्राणी पुनः उसी गांव में आए। जनता के दुखों की आवाजें सुनी। इंद्राणी ने कहा—'क्या आपने सबको सुखी बना डाला।' इंद्र ने घूम-घूमकर देखा, सब अपने आपको दुखी बतला रहे थे। इंद्र जहां भी गया—गालियां पड़ीं।

तात्पर्य यह कि पदार्थ की दुनिया में जीने वाला व्यक्ति विषमता चाहता है, समता नहीं। वह चाहता है, एक बड़ा बना रहे. दूसरा छोटा। एक स्वामी बना रहे, दूसरा सेवक। एक आदेश देने वाला हो, दूसरा आदेश मानने वाला।

यह सारा वैभव, ठाट-बाट और संपन्नता किसके आधार पर टिकी हुई है ? कोई निर्धन नहीं है तो धनी होने का कोई प्रयोजन नहीं है। कोई विपन्न नहीं है तो संपन्न होने का अर्थ ही नहीं रहता। हम कम्युनिस्ट को साम्यवादी और कम्युनिज्म को साम्यवाद कहते आए हैं, पर ऐसा कैसे कह सकते हैं ? कम्यून का अर्थ होना चाहिए समूह। कम्युनिज्म अर्थात् समूहवाद। किंतु कम्यून के लिए साम्य का प्रयोग करना गलत प्रयोग है। हमारी भ्रांति हो गई, क्या साम्यवादी शासन-प्रणाली में साम्य मिलेगा, नहीं मिल सकता ? साम्य का दर्शन केवल अध्यात्म में ही हो सकता है। पदार्थ जगत में कभी साम्य का दर्शन नहीं हो सकता और साम्य सहा भी नहीं जा सकता।

पानी में आग

पदार्थ की प्रचुरता के कारण एक पागलपन बढ़ता है, एक अतृप्ति बढ़ती है और ऐसी अतृप्ति बढ़ती है कि जिसको बुझाने का कोई साधन नहीं होता। जब तक पदार्थों की कमी होती है, तब तक अतृप्ति थोड़ी ही होती है। यह भी एक उल्टा नियम है। इसे समझें। पदार्थों का प्राचुर्य नहीं होता, बहुलता नहीं होती तब तक अतृप्ति कम होती है। जब पदार्थों की मात्रा बहुत बढ़ जाती है, तो अतृप्ति की मात्रा भी बढ़ जाती है। फिर इसे मिटाने का कोई साधन नहीं मिलता। आदमी को पागल होना पड़ता है। हम देख चुके हैं और अनुभव के आधार पर भी मानना होगा कि जिन देशों ने पदार्थों की सीमा का अतिक्रमण कर दिया, इतने पदार्थ विकसित कर लिए कि भौतिकता चरम-बिंदु तक पहुंच गई, वहां पागलपन भी बहुत बढ़ रहा है। क्योंकि पदार्थों के द्वारा उनकी अतृप्ति को नहीं बुझाया जा सकता। आग को पानी के द्वारा बुझाया जा सकता है, किंतु आग जब पानी में लग जाती है तो फिर उस आग को पानी के द्वारा नहीं बुझाया जा सकता। समुद्र की अग्नि होती है बड़वानल। उसको पानी से नहीं बुझाया जा सकता। चाहे कितना ही पानी डालें, पानी में ही आग लगी हुई है, तो पानी क्या करेगा ? जब मानसिक अतृप्ति होती है और वह बढ़ जाती है तो पदार्थ की प्रचुरता उसे नहीं मिटा सकती। उसमें मिटाने की क्षमता नहीं रहती। पदार्थ व्यर्थ और बेकार हो जाते हैं। उस स्थिति में, उस अतृप्ति को मिटाने के लिए एक तृप्ति का बिंदु खोजा जाता है।

अतृप्ति के द्वारा कभी अतृप्ति को नहीं मिटाया जा सकता। घी के द्वारा आग को प्रदीप्त किया जा सकता है, बुझाया नहीं जा सकता। हम समता में विश्वास करते हैं, संयम में विश्वास करते हैं। हमने समता का अनुभव किया है, संयम का अनुभव किया है। जिस व्यक्ति ने संयम का अनुभव किया, जिस व्यक्ति ने जीवन में समता का अनुभव किया,

संयम और समता के आदि-बिंदुओं का थोड़ा भी स्पर्श किया, वह स्पर्श करता है पांच महाव्रतों का, पांच अणुव्रतों का। एक मुनि और अधिक स्पर्श करता है और वह स्पर्श जैसे-जैसे बढ़ता है, समाधि अपने आप विकसित होती चली जाती है। पदार्थ की यात्रा से अपदार्थ की ओर नहीं जा रहे हैं, किंतु अपदार्थ की यात्रा में आने वाले पदार्थ को तटस्थ दृष्टि से, सम दृष्टि से देखते हुए यात्रा चला रहे हैं। एक आदमी यात्रा शुरू करता है। रास्ते में पेड़ आते हैं। रास्ते में घाटियां भी आती हैं, पहाड़ भी आते हैं, ऊबड़-खाबड़ जमीनें भी आती हैं। सुगंध भी आती है, दुर्गंध भी आती है। भले भी आते हैं, बुरे भी आते हैं। सब आते हैं। चलने वाला चलता जाता है। ठीक हमारी वही यात्रा है। एक वह भी आदमी होता है कि जो भी मिला उसी से उलझ गया। वहां यात्रा थोड़ी कठिन बन जाती है। हम एक निश्चित लक्ष्य के साथ चलें और बीच में जितने आने वाले हैं, उनको देखते जाएं, समझते जाएं, पर उलझें नहीं। हम तटस्थ होकर चलते चलें। जब हम निश्चित लक्ष्य की ओर सम और तटस्थ होकर चलेंगे तो पहुंच जाएंगे और यदि बीच में उलझ जाएंगे तो भटक जाएंगे।

तृप्ति का बिंदु

तृप्ति का बिंदु है—वैराग्य। उसी के परिपार्श्व में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकास हुआ। इसलिए भगवान महावीर ने कहा—ये मूल गुण हैं पांचों। ध्यान भी उत्तर गुण है, यानी बाद में होने वाला है। समाधि भी उत्तर गुण है, बाद में होने वाली है। तपस्या भी बाद में होने वाली है। सब उत्तर गुण हैं। मूल गुण हैं—पांच महाव्रत।

क्रमिक आरोहण

ये पांच महाव्रत पहले होते हैं तो समाधि का विकास आगे बढ़ता जाता है। सामायिक का पहला बिंदु है—पांच महाव्रत। समता का पहला बिंदु है—पांच महाव्रत। ये नहीं होते हैं तो फिर अग्रिम विकास नहीं हो सकता। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का प्रतिपादन किया। उन आठ अंगों में पहला अंग है—यम। यम के बाद फिर नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये चलते हैं। जब यम ही घटित नहीं होता तो समाधि, जो आठवां अंग है, कैसे घटित होगा? ❖

सत्य के व्रत का पालन करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले आत्मशुद्धि पर ध्यान देना चाहिए। आत्मशुद्धि का अर्थ है मन, वचन और निर्विकार यानी राग-द्वेष से रहित होना। जब तक मनुष्य स्वार्थ और तृष्णा को नहीं छोड़ता, तब तक वह ऊपर नहीं उठ सकता, क्योंकि तृष्णा से ही सब प्रकार की वासनाओं की प्रवृत्ति होती है। गौतम बुद्ध ने 'दीघनिकाय' के महानिदान सुतांत में लिखा है—'हे आनंद! वेदना से तृष्णा, तृष्णा से पर्येषणा, पर्येषणा से लाभ, लाभ से निश्चय, निश्चय से आसक्ति, आसक्ति से अध्यवसान, अध्यवसान से परिग्रह, परिग्रह से भात्सर्या, भात्सर्या से आरक्षा, आरक्षा से आरक्षाधिकरण-दंडदान, शरणधन, कलह, निग्रध विवाद, तू-तू-मैं-मैं, पेशुन्य, असत्य भाषण इत्यादि अनेक पापकारक अकुशल कार्यों का जन्म होता है।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह अस्तेय, इंद्रिय निग्रह आदि को बहुत महत्त्व दिया जाता है।

—रामनाथ सुमन

साधन-साध्य : एक मीमांसा

□ आचार्यश्री तुलसी □

साधन-शुद्धि की चर्चा के प्रसंग में एक बात पर ध्यान देना जरूरी है। साध्य शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। जहां साध्य ही शुद्ध न हो, वहां साधन-शुद्धि की बात एक सीमा तक ही मान्य हो सकती है। साध्य शुद्ध हो तो साधन-शुद्धि की अनिवार्यता रहनी चाहिए। अन्यथा अशुद्ध साधन साध्य की शुद्धता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है।

धर्म का क्षेत्र हो या राजनीति का, व्यवसाय का क्षेत्र हो या कला का, साध्य-साधन की चर्चा बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'सिसाधयिषितं साध्यम्' साध्य वह होता है, जिसे व्यक्ति सिद्ध करना चाहता है। साध्य की सिद्धि में जिसका अविनाभावी सहयोग हो, वह साधन कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार जो साधकतम होता है, वही साधन हो सकता है। अन्य सहायक सामग्री को हेतु या निमित्त के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है।

कुछ लोगों का अभिमत है कि साध्य की सिद्धि के लिए किसी भी साधन को काम में लिया जा सकता है। कुछ लोगों की उक्त सिद्धांत के साथ सहमति नहीं है। धर्म के क्षेत्र में आचार्य भिक्षु ने साधन-शुद्धि की बात पर पूरा बल दिया। राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी का भी यही सिद्धांत रहा। आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के सामने भूमिकाएं भिन्न थीं। फिर भी उनके विचारों में एकत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शुद्ध साध्य के लिए साधन-शुद्धि की अनिवार्यता

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से साध्य अनेक प्रकार का हो सकता है। कोई व्यक्ति किसी भौतिक वस्तु की उपलब्धि को अपना साध्य बनाता है। उसे पाने के लिए जिन उपायों को काम में लेता है, उन्हें साधन की कोटि में लिया जा सकता है। कोई व्यक्ति कोलकाता या मुंबई को अपना साध्य बनाता है। वहां पहुंचने के लिए कार, प्लेन, ट्रेन आदि साधन बनते हैं। पदयात्रा भी एक साधन है। किसान खेती करता है। वह वर्षा ऋतु की प्रतीक्षा करता है। वर्षा के लिए सघन वृक्षावलि को निमित्त माना जाता है। कुछ लोग यज्ञ करते हैं। कुछ लोग इंद्रदेव का आह्वान करते हैं। आस्था के आधार पर साध्य और साधन बदल जाते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से मोक्ष साध्य बनता है। मोक्ष की सिद्धि के लिए भी साधनों में एकरूपता नहीं रहती।

साधन-शुद्धि की चर्चा के प्रसंग में एक बात पर ध्यान देना जरूरी है। साध्य शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। जहां साध्य ही शुद्ध न हो, वहां साधन-शुद्धि की बात एक सीमा तक ही मान्य हो सकती है। साध्य शुद्ध हो तो साधन-शुद्धि की अनिवार्यता रहनी चाहिए। अन्यथा अशुद्ध साधन साध्य की शुद्धता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है।

महात्मा गांधी का वैशिष्ट्य

मोक्ष नितांत शुद्ध साध्य है। मोक्ष की साधना में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को साधन रूप में स्वीकार किया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि साधनों से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धांत के साथ किसी की असहमति नहीं है। फिर भी आचरण के धरातल पर कुछ गोलमाल हो रहा है। यह सच है कि गृहस्थ का जीवन हिंसा के बिना नहीं चल सकता। पर अनिवार्य होने मात्र से हिंसा मोक्ष का साधन कैसे बन सकती है? आचार्य भिक्षु ने इस बात पर सर्वाधिक बल देते हुए कहा—'हिंसा से मोक्ष हो सकता है, यह सिद्धांत मुझे किसी भी स्थिति में मान्य नहीं है।'

जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी शुद्ध साधन संबंधी अवधारणा मोक्ष के संदर्भ में रही है। इस दृष्टि से महात्मा गांधी को बहुत आगे माना जा सकता है। उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के लिए अहिंसा को साधन रूप में अपनाया, यह महत्त्वपूर्ण बात है। जो लोग यह मानते हैं कि राजनीति हिंसा के बिना नहीं चलती, व्यापार झूठ के बिना नहीं चलता, वे अपनी दुर्बलता पर आवरण डालना चाहते हैं। राजनीति में अमुक सीमा तक अहिंसा का सहारा लिया जा सकता है, यह

गांधीजी ने दिखा दिया। व्यापार में भी छल-प्रपंच से बचा जा सकता है। ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो झूठ नहीं बोलते, दो तरह के खाते नहीं रखते, टैक्स की चोरी नहीं करते और ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी नहीं करते।

हिंसा से मोक्ष नहीं सधता

सत्य, अहिंसा के आधार पर जीवन चल सकता है क्या? यह संदेह दुर्बल मानसिकता का प्रतीक है। मनोबल मजबूत हो, प्रतिस्पर्द्धा एवं अनुकरण की बात गौण हो और आवश्यकताएं सीमित हों तो व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सत्य, अहिंसा को आधार बना सकता है। इस विषय में आचार्य भिक्षु का चिंतन पूरी तरह से स्पष्ट था। उन्होंने कहा—सामाजिक, पारिवारिक और व्यावसायिक क्षेत्र में साधन-शुद्धि की अपनी सीमाएं हो सकती हैं, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका कोई विकल्प नहीं है। मोक्ष की साधना में हिंसा, असत्य या परिग्रह को साधन मानना पाषाण-खंड को पानी में तैराना है। जैसे अग्नि ठंडी नहीं हो सकती, वैसे ही हिंसा आदि साधनों से मोक्ष को नहीं साधा जा सकता।

पंडित माघ का दान

कुछ लोग धर्म या अध्यात्म या अध्यात्म की भाषा को नहीं समझते। वे लौकिक दृष्टि से देखते हैं और उसी रूप में आचरण करते हैं। समाज में रहने वाले सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते। पर यश, प्रतिष्ठा या नाम की भूख से ऊपर उठकर समाज की सेवा करने वाले कम व्यक्ति होते हैं। अधिकांश लोग जितना काम करते हैं, उससे अधिक नाम की आकांक्षा रखते हैं। लौकिक कार्यों में भी अनासक्त रहने वाले व्यक्ति आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। सामाजिक दान में भी अनासक्त रहना सरल नहीं है। इस संदर्भ में पंडित माघ एक उदाहरण हैं।

एक बार पंडित माघ के पास कोई ब्राह्मण आया। उसकी बेटी की शादी का प्रसंग था। उसे आर्थिक सहयोग की अपेक्षा थी। ब्राह्मण ने पंडितजी के सामने अपनी मांग रखी। पंडितजी स्वयं बहुत साधारण स्थिति में थे। फिर भी ब्राह्मण के प्रति वे संवेदनशील हो उठे। उन्होंने इधर-उधर देखा। घर में कहीं कुछ भी नहीं मिला। एक ओर उनकी पत्नी सो रही थी। उसके हाथों में सोने के दो कंगन थे। पंडितजी की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्होंने धीमे-से पत्नी के पास जाकर एक हाथ से कंगन निकाला।

नींद में अचानक पंडितजी के हाथ का स्पर्श होने से उनकी पत्नी चिल्लाई—'चोर, चोर, चोर।' पंडितजी ने उसको चुप करते हुए कहा—'शांत रहो, घर का ही चोर है।' पत्नी ने हाथ से कंगन निकालने का कारण पूछा। पंडितजी ने ब्राह्मण का दुख-दर्द सुना दिया। पत्नी बोली—'पतिदेव! एक कंगन से ब्राह्मण का काम कैसे चलेगा? आप उसे दोनों कंगन दे दें।' पंडित माघ विलक्षण थे तो उनकी पत्नी भी कम नहीं थी। उसने दूसरे हाथ से कंगन निकाल कर दे दिया। ब्राह्मण माघ दंपति के लिए दुआ करता हुआ चला गया।

प्रश्न हो सकता है कि पंडित माघ द्वारा प्रदत्त दान क्या धार्मिक या आध्यात्मिक दान है? थोड़ी-सी गहराई से सोचा जाए तो अपने आप समझ में आ जाएगा कि यह कैसा प्रश्न है? न उन्होंने धार्मिक दृष्टि से दिया और न ब्राह्मण ने धर्म समझकर लिया। सामाजिक दायित्व की प्रेरणा हुई और दान दे दिया। ऐसे लौकिक दान में सहजता, निर्गर्विता और अनासक्ति का मूल्यांकन हो सकता है। कुछ लोग 'थोथा चणा बाजे घणा'—थोथे चनों में ध्वनि अधिक होती है, इस कहावत को चरितार्थ करते हुए थोड़ा-सा दान देकर अधिक दिखाना चाहते हैं।

बच्चे की खोज : धर्म या पाप?

कुछ लोग परिग्रह का अर्जन करते हैं, संग्रह करते हैं। कहीं समाज या राष्ट्र के लिए देने का प्रसंग आता है तो वे कहते हैं—'दान देना धर्म है या पाप?' देना पाप है तो क्या तिजोरी भरकर रखना पाप नहीं है? देते समय जो प्रश्न उठता है, वह संग्रह करते समय क्यों नहीं उठता? परिग्रह के साथ धर्म का कोई संबंध है ही नहीं। धर्म है अनासक्ति, अमूर्च्छा और त्याग की भावना। मनुष्य के स्वभाव की विचित्रता है कि वह स्वार्थसिद्धि के लिए अपना नजरिया बदल लेता है।

रविवार का दिन था। जोधपुर शहर की बात है। प्रवचन में शहर के बहुत-से लोग उपस्थित थे। आचार्य भिक्षु के मंतव्यों पर प्रवचन हुआ। श्रोताओं ने पूरी शांति और तन्मयता से सुना। प्रवचन संपन्न हुआ। मैं सीढ़ियां चढ़कर ऊपर जा रहा था। बीच में ही एक व्यक्ति मेरे निकट पहुंचकर बोला—'आचार्यजी! एक बच्चा गुम हो गया।' मैंने कहा—'बच्चा कहां जा सकता है? भीड़-भाड़ में कहीं बिछुड़ गया होगा, मिल जाएगा।' आगंतुक व्यक्ति बोला—'उसे खोजें या नहीं?' मैंने कहा—'यह क्या प्रश्न है? आपका बच्चा खो गया और आप मुझे पूछ रहे हैं कि उसको खोजें या नहीं?' आगंतुक बोला—'बात खोजने तक ही सीमित नहीं है। मुझे पूछना यह है कि उसे खोजने में धर्म होगा या नहीं?' प्रश्नकर्ता यह सब क्यों पूछ रहा था, उसका रहस्य अब खुला। न बच्चा खोया था और न उसे खोजना था। उसे तो आचार्य भिक्षु की मान्यता पर व्यंग्य करना था। स्थिति को

समझते हुए मैंने कहा—'बच्चे को खोजने में ही धर्म की बात पूछते हो, उसे पैदा करते समय क्यों नहीं पूछा कि बच्चे को पैदा करने में धर्म है या नहीं? बच्चे को पैदा करने में जो कुछ हुआ है, वही उसे खोजने में होगा।' यह बात सुन उसके पास कहने के लिए कुछ नहीं बचा। वह मौन हो गया।

राग और द्वेष के खेल

सामाजिकता और धार्मिकता—दो अलग रास्ते हैं। सामाजिक धरातल पर दान का महत्त्व कम नहीं है। पर उसके साथ धर्म की अवधारणा क्यों की जाए? जिस दान में असंयम का पोषण होता है, वह धर्म नहीं हो सकता। एक को मारना और एक को बचाना राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति है। जहां राग और द्वेष है, वहां अध्यात्म या धर्म कैसे हो सकता है? तेरापंथ प्रबोध का एक पद्य है—

पोषण जठै असंजम रो, बो 'दान' दान है, धर्म नहीं,
मारै एकण नै पुचकारै, रोष राग है, धर्म नहीं।
हो सन्तां! साध्यसिद्धि में साधन री शुद्धी अनिवार हो...

दो व्यक्ति आपस में मार-पीट कर रहे थे। एक व्यक्ति चिल्लाया—'बचाओ-बचाओ।' उधर से जा रहे किसी राहगीर ने उसकी पुकार सुनी। वह उसके निकट आया और बीच में आकर उसको छुड़ा दिया। छूटते ही चिल्लाने वाला व्यक्ति भाग खड़ा हुआ। दूसरा व्यक्ति बोला—'महाशय! आपने क्या किया? यह मेरे रुपए और आभूषण लेकर जा रहा था। मैंने बड़ी मुश्किल से इसको पकड़ा। आपने आकर इसे भगा दिया।' राहगीर बोला—'मुझे क्या पता। वह रो रहा था। उसकी करुण पुकार सुन मेरा दिल द्रवित हो गया। मैंने सोचा कि शायद आप उसे यों ही पीट रहे हैं।' ऐसे प्रसंगों को लक्ष्य करके ही कहा गया है—

'एकण रे दै रे चपेटी, एकण रो दै उपद्रव मेटी।
ओ तो राग द्वेष रो चालो, दसवैकालिक संभालो।।'

आत्मरक्षा के आलंबन

राग और द्वेष की प्रेरणा से होने वाली प्रवृत्ति धर्म नहीं है तो मनुष्य क्या करे? क्या वह हिंसा को तटस्थ होकर देखता रहे? उसके सामने कोई मरता हो तो उसे मरने दे? इन प्रश्नों का समाधान भगवान महावीर की वाणी में मिलता है। 'ठाणं' सूत्र में भगवान ने तीन प्रकार के आत्मरक्षक बतलाए हैं—

- धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवति— अकरणीय कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति को धार्मिक प्रेरणा से प्रेरित करने वाला।
- तुसिणीए वा सिया—प्रेरणा न देने की स्थिति में मौन रहने वाला।
- उट्ठित्ता वा आताए एगंतमंतमवक्कमेज्जा—मौन और उपेक्षा न करने की स्थिति में वहां से उठकर एकांत में चले जाने वाला।

धार्मिक प्रेरणा का अर्थ है विवाद से जुड़े हुए दोनों व्यक्तियों को समझाना। उनका राग-द्वेष कम करना। समझाने पर भी वे न समझें तो मौन का आलंबन श्रेयस्कर है। मौन रहना कठिन हो तो उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र गमन कर देना। ये तीन मार्ग हैं, जो अहिंसा के आलंबन बन सकते हैं। इन मार्गों से चलने वाला व्यक्ति दूसरों की हिंसात्मक प्रवृत्ति को रोकने में सफल हो या नहीं, स्वयं को हिंसा से बचा लेता है।

किसी व्यक्ति के आक्रामक तेवर का प्रतिवाद न किया जाए तो क्या उसके हाथों मौत को स्वीकार कर लिया जाए? यह भी एक प्रश्न है। अहिंसा को साधन के रूप में अपनाने का मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति अपनी या अपने बाल-बच्चों की सुरक्षा नहीं करे। मूल बात इतनी-सी है कि अहिंसा के क्षेत्र में मारपीट, गाली-गलौज या छीना-झपटी का कोई स्थान नहीं है पर गृहस्थ जीवन केवल अहिंसा के ही आधार पर नहीं चल सकता।

अहिंसा का संबंध हृदय-परिवर्तन के साथ है। प्रलोभन या बलप्रयोग से किसी को अहिंसक बनाना अहिंसा का शुद्ध स्वरूप नहीं है। जब तक तत्त्व का सम्यक् अवबोध नहीं हो जाता, धर्म के नाम पर प्रलोभन और भय का सहारा भी लिया जाता है।

प्रलोभन, बलप्रयोग और हृदय-परिवर्तन

पर्युषण महापर्व का समय आया। संवत्सरी के दिन कत्लखाने बंद रहने चाहिए। यह चिंतन सामने आया। चिंतन की क्रियान्विति का तरीका यह सोचा गया कि समाज के कुछ लोग कत्लखाने के अधिकारियों से मिलकर बात करें। संवत्सरी के पहले दिन कुछ व्यक्ति कत्लखाने गए, अधिकारियों से मिले और बोले—'कल का दिन बहुत महत्त्वपूर्ण है। सब लोग धर्माराधना कर उस दिन को मनाएं, यह हमारी भावना है। हमारे धर्मगुरु का उपदेश है कि कम से कम एक दिन के लिए कत्लखाने बंद रहें।'

कत्लखाने के अधिकारियों ने पूरी बात सुनकर कहा—'हम अपना काम बंद रख सकते हैं। इसके लिए आप क्या करेंगे?' उत्तर था—'आप चाहेंगे तो आपको गुरुजी का

शेष पृष्ठ 54 पर

निरतिचार साधना : आराधना

□ साध्वी राजीमती □

उत्कृष्ट ज्ञानाराधना के लिए न अतींद्रिय ज्ञान होना आवश्यक है, और न बहुश्रुत होना। मतिश्रुत ज्ञान के धारक मुनि भी अप्रमाद के सहारे उत्कृष्ट ज्ञानाराधना के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि जो भाषा में सजग रहता है वही आत्मज्ञानी है और वही पूर्ण ज्ञानाराधक है। ज्ञानी नया बंधन नहीं करता, क्योंकि वह बंध हेतुओं को दूर खड़े होकर देखना जानता है। जो देखता है, वह मुक्त हो जाता है। महावीर इसी द्रष्टाभाव के आधार पर कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनों को स्वतंत्र नहीं मानते थे। इसीलिए महावीर ज्ञानयोगी कहलाए, वह ज्ञान जो दिशा बताए और आचरण का शोधन करे। भक्ति रजोगुण से भी आ सकती है, परंतु आत्मज्ञान बिना सतोगुण नहीं आता।

आराधना उस साधना का नाम है जो जीवन के अंतिम क्षण तक निरतिचार चलती है। ऐसा कौन साधक होगा जो वीतरागता से पूर्व प्रमत्त नहीं होता, स्खलित नहीं होता। उस स्खलना की चिकित्सा है आलोचना और उसका फलित है—आराधना। अंतिम क्षण की पूर्णता ही आराधना निष्पत्ति है। दाग को धोना एक प्रकार की सफाई है, दाग न लगने देना दूसरे प्रकार की सफाई है। दाग को धोना आलोचना है और दाग न लगने देना पवित्रता, चारित्रिक निर्मलता एवं पूर्ण साधना आराधना है। जैन आगमों तथा ग्रंथों में स्थान-स्थान पर आराधना का सूक्ष्म विवेचन मिलता है।

आराधना : एक विश्लेषण

ज्ञान, दर्शन की शुद्ध साधना आराधना है। स्वीकृत नियमों की सम्यक् अनुपालना आराधना है। यद्यपि निरतिचार साधना का नाम आराधना है, परंतु कुछ ग्रंथों में केवल संलेखना, अनशन के लिए ही आराधना शब्द का प्रयोग हुआ है। क्योंकि संलेखना काल में तो वह कषाय की नई-पुरानी परतों तथा देहाध्यास की चट्टान को कुरेदने का कार्य प्रारंभ करता ही है। इस साधना के बिना कोई शरीर-त्याग भले कर दे, परंतु बंधोच्छेद नहीं हो सकता। आत्मिक-सुख, मोक्ष-सुख की प्राप्ति का निकटतम उपाय आराधना है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन आत्मीय-गुणों का सम्यक् संरक्षण करना अर्थात् उन गुणों को कषाय से अप्रभावित रखना आराधना है।

औपपातिक टीका में लिखा है—ज्ञानादि गुणानां विशेषतः पालना आराधना। आत्मगुणों को किसी भी स्थिति में खंडित नहीं होने देना आराधना है। (विशेषावश्यक वृहद्वृत्ति)। आतुर प्रत्याख्यान में लिखा है—उत्तमार्थ प्रतिपत्ति आराधना अर्थात् उत्तम अर्थ की प्राप्ति के लिए जो पुरुषार्थ है—वह आराधना है। इसी तरह उत्तराध्ययन की वृहत् वृत्ति में लिखा है—आराधयन्ति अविकलतया निष्पादयंति सम्यक् दर्शनादीनि इत्याराधकाः भवंति। दसवै. सूत्र में कहा गया है कि गुण-दोष को समझकर बोलने वाला, समाहित इंद्रिय वाला, चार कषाय रहित, अनिश्रित-तटस्थ, पूर्वकृत पापमल को नष्टकर वर्तमान तथा भावी लोक की आराधना करके जो समाधिमरण प्राप्त करता है—वह तीसरे भव में अवश्य मुक्त हो जाता है। उत्तम संहनन वज्रऋषभनाराच वाला उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अन्य संहनन वाला उत्तम आराधक बनकर जघन्य तीन भव तथा उत्कृष्ट आठ भव में मोक्ष जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि आराधना कौन कर सकता है? शास्त्रों में समाधान मिलता है कि जीवन में वे ही साधक आराधना कर सकते हैं जिन्होंने—1. रत्नत्रयी का आत्मसाक्षी से पूर्ण पालन किया है। 2. शिक्षा, दीक्षा तथा गणपोषण का कार्य किया है। 3. संलेखना आदि कार्यों में पूर्ण जागरूकता का परिचय दिया है। 4. सुख-स्वभाव का जिन्होंने त्याग कर दिया है। 5. इन्द्रिय जय और कषाय जय का जिन्हें अभ्यास है। 6. जिनमें ऋद्धि, रस तथा साता,

गौरव का अभिमान नहीं है। 7. जिनमें पर्याप्त आत्मबल तथा शरीरबल है। 8. जो प्रतिदिन प्रतिक्रमण का महास्नान करते हैं। 9. जिन आत्माओं की आसक्ति प्रबल नहीं है। 10. जो आगमों का सविधि स्वाध्याय करते हैं।

एक दूसरा प्रश्न उभरता है कि आराधना का अधिकारी कौन नहीं?

जो परीषहों—कष्टों से पराजित है, जो इंद्रिय-सुखों का लंपट है, जो सेवा-भावी, विनम्र नहीं है, जो शोभा, विभूषा करता है, जो मनोबल से दुर्बल—हीन है, जो विकारों से जटिल है—वह आराधना का अधिकारी नहीं हो सकता।

ऐसे साधक आराधना के अवसर पर हीन-सत्त्व वाले बन जाते हैं, घबरा जाते हैं। इससे लगता है कि उनका जीवन कभी सामान्य या विशेष उलझन, असमाधि, अनाचार-संपन्न रहा है। जैसे-जैसे चेतना पर पाप का दबाव-भार बढ़ता है, वैसे-वैसे उसका बलवीर्य गिरता जाता है। विकारों से जटिल जीवन-जटा को कषाय के, अशांति के रंगीन क्षणों में वह सुलझाए भी कैसे? आराधना के लिए चाहिए प्रतिदिन का पवित्र विचार, अप्रमत्तता और आत्म-चिंतन।

जो मुनि यह सोचते हैं कि मरणकाल प्राप्त होने पर आराधना कर लेंगे, यह कल के लिए रुकने की बात सचमुच सदा के लिए छोड़ने-रुकने जैसी है। ऐसा सोचने वाला साधक कभी प्रायश्चित तुला पर स्वयं को नहीं चढ़ा सकता। वह मरणकाल में विषाद को प्राप्त करता है। जो गए काल को नहीं जान सकता वह वर्तमान को भी नहीं जान सकता, क्योंकि वर्तमान ही तो अतीत बनता है।

कल्ले परेवपरदो काहं दंसण चरित्र सोहि।
इय संकप्प मदिया गयंपि कालं ण याणंति।।

(मूलाराधना-54)

आराधक के दो प्रकार

वस्तु के जैसे दो रूप होते हैं वैसे ही जीवन के दो रूप होते हैं—भीतरी और बाहरी, आस्था और व्यवहार। कुछ साधक व्यवहार से, क्रिया से, अपने चरित्र की विराधना, खंडना करते हैं और कुछ साधक आस्था, दर्शन-हीन होकर अपने पथ की विराधना करते हैं। क्रिया का, चरित्र का आराधक होना एकपक्षीय पूर्णता है। ज्ञातासूत्र में चरित्र संबंधी (व्यवहार) आराधना और विराधना का वर्णन बहुत ही स्पष्टता से एक रूपक की भाषा में किया गया है। बताया गया है—

भंते! जीव आराधक और विराधक कैसे बनता है?

1. गौतम! कल्पना करो समुद्र तट पर दावद्रव (देवदारू) के वृक्ष हैं जो अपनी श्री, शोभा, सौंदर्य और स्वच्छ हवा के कारण देखते ही बनते हैं। उनमें कुछ ऐसे वृक्ष हैं जो समुद्र की हवा को सह जाते हैं, किंतु द्वीप की हवा को नहीं सह पाते हैं। 2. इसके विपरीत कुछ ऐसे वृक्ष हैं जो द्वीप की हवा को सहन कर लेते हैं, परंतु समुद्र की हवा को नहीं सह पाते। 3. उनके बराबर कुछ ऐसे भी मजबूत वृक्ष हैं जो दोनों प्रकार की हवाओं को सह सकते हैं। 4. कुछ ऐसे कमजोर वृक्ष भी हैं जो दोनों ही प्रकार की हवा के झोंकों में खड़े नहीं रह सकते हैं।

इसके प्रत्युत्तर में बताया गया है—

1. प्रथम श्रेणी के वे मुनि हैं जो अपने संघ के साधु-साध्वियों के कठोर वचनों को सह लेते हैं, परंतु अन्य तीर्थिक लोगों के (संन्यासियों के) वचनों को नहीं सह पाते। मैं उन श्रमणों को देश-आराधक कहता हूं। गौतम स्वामी ने तहत् कहकर स्वीकार किया। 2. संघ में कुछ ऐसे श्रमण होते हैं जो समुद्र की हवा की तरह अन्य तीर्थिकों के वचनों को तो सह लेते हैं, परंतु द्वीप की हवा की तरह अपने संघ के श्रमणों के कठोर वचनों को नहीं सह पाते। ऐसे श्रमणों को भगवान ने देश-विराधक कहा है। 3. तीसरी श्रेणी के वे मुनि हैं जो दोनों ही प्रकार के कठोर वचनों एवं व्यवहार को सह लेते हैं। गौतम। ऐसे मुनियों को मैं सर्व-आराधक कहता हूं। 4. जो दोनों ही प्रकार की हवाओं को, वचन-प्रहारों को सह नहीं सकते, वे मुनि सर्व-विराधक कहलाते हैं। (ज्ञाताधर्म कथा)

आराधना के आकार और प्रकार

आराधना के मुख्य तीन प्रकार हैं— 1. ज्ञान की आराधना, 2. दर्शन की आराधना, 3. चारित्र की आराधना। इस साधना-त्रिवेणी में महास्नान करके साधक पवित्र बन जाता है। पूर्ण आराधक, सिद्ध-साधक बन जाता है।

ज्ञानाराधना—ज्ञान जीवन की पवित्रता है, क्योंकि ज्ञान विचार और व्यवहार को अपने आलोक से भरता है। बंधन-मुक्ति के साधन ज्ञान और क्रिया दोनों हैं। उनमें प्रथम है— ज्ञान, बोध, प्रबोध। जब कभी साधक स्खलित होता है, ज्ञान उसे जगाता है, अपने हिताहित का बोध कराता है। ज्ञान प्रकाश है। तीसरी आंख है। इस प्रकाश से भीतर का जगत स्पष्ट होता है। अपने विकार, संस्कार और अपनी कमजोरियां समझ में आती हैं।

ज्ञान व्यवहार का नहीं—सत्य का होना चाहिए, आत्मा का होना चाहिए। यद्यपि भौतिक शरीर में जीने वाले के लिए स्थूल जीवन दृश्यमान है। भगवान महावीर ने जगह-जगह इस बात पर बल दिया है कि जो कुछ भी प्राप्त होता है

वह सब ज्ञान के क्षणों में होता है। ज्ञानाराधना का तात्पर्य यह नहीं है कि हम अध्ययन करें, बल्कि वह ज्ञान प्राप्त करें जिससे अपना हिताहित, अपनी मुक्ति एवं बंधन का ज्ञान हो सके1 जिस ज्ञान से कषाय का उद्दीपन हो, अहं जागे, ईर्ष्या बढ़े वह सब विराधक-ज्ञान है। ज्ञान से आत्म-ज्ञान निकलता है—वस्त्र प्रक्षालन करते-करते मन का प्रक्षालन किया जा सकता है, गोबर के उपले बनाते-बनाते स्वयं के मन को शांत करने की थपकी दी जा सकती है और आकाश-दर्शन करते-करते स्वयं का दर्शन किया जा सकता है।

एक मुनि स्वाध्याय भूमि में बैठा-बैठा इस आगम वाणी का पुनरावर्तन कर रहा था—'सउणीजह पंसुगुंडिया, विहुणियधंसयइसियंरयं'।

जब शकुनी अपनी गीली पांखों को धुनकर रजों को फेंक सकती है तो फिर क्यों नहीं मैं अपने कर्मरज-कणों को एक ही झटके में फेंक दूं। शकुनी के स्थान पर स्वयं, पांखों की जगह भावों की छटपटाहट और धूल के स्थान पर कर्मरज। मुनि एक कोने में बैठकर पूरे शरीर को हिलाता हुआ इस भाव में लीन हो गया, वाह! मेरे इस स्थूल शरीर के प्रकंपनों के साथ कर्म-शरीर भी प्रकंपित हो रहा है, कर्म झड़ रहे हैं। इस प्रकार शकुनी की कहानी मुनि की आत्म-कहानी बन गई। आवरण हटा, कैवल्य पा लिया।

ऐसा ही एक बौद्ध भिक्षु का प्रसंग ज्ञातव्य है। मैंने चालीस कर्म स्थानों का ध्यान किया है, तथापि प्रभो! मेरा मन एकाग्र, शांत नहीं हो रहा है। इसके प्रत्युत्तर में गुरु ने कहा—जाओ, यह चेलकण्ण (वस्त्रखंड) है जिसे बहुत तेजी से झाड़ते, झटकते रहना। वह तथास्तु कह कर उस कार्य में लग गया। वस्त्र को एक किनारे से पकड़कर वेग से झाड़ना प्रारंभ कर दिया। बाहर से झाड़ने की बात भीतर तक पहुंच गई। मन शांत होते-होते अस्पर्श-योग तक पहुंच गया।

ज्ञान की सार्थकता—ज्ञान इसलिए पवित्रता और प्रकाश का सूचक है कि इससे दमन, घृणा, अहं और ईर्ष्या जैसे भाव नहीं पनपते। जिस ज्ञान से ये विकार उभरते हैं वह सद्ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान का झूठा अभिमान है। इसलिए ज्ञान की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आराधना का विभाजन ज्ञेय की तरतमता से न होकर अप्रमत्तता और पवित्रता के कारण है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए जयाचार्यजी ने भगवती की जोड़ में लिखा है—

- **उत्कृष्ट ज्ञान आराधना ज्ञान तणो अनुष्ठान। तास विषे प्रयत्न अति, गाढ़ो उद्यम आन (1) तिम बहुपिण नहीं, ते मझिम कहिवाय** (भगवती जोड़)।
- **ज्ञान कृत्य कार्य विषये, अति ही अल्प प्रयत्न। अति थोड़ो उद्यम करै, कहिए तास जघन्य** (2)।

उत्कृष्ट ज्ञानाराधना के लिए न अतींद्रिय ज्ञान होना आवश्यक है और न बहुश्रुत होना। मतिश्रुत ज्ञान के धारक मुनि भी अप्रमाद के सहारे उत्कृष्ट ज्ञानाराधना के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि जो भाषा में सजग रहता है वही आत्मज्ञानी है और वही पूर्ण ज्ञानाराधक है। ज्ञानी नया बंधन नहीं करता, क्योंकि वह बंध हेतुओं को दूर खड़े होकर देखना जानता है। जो देखता है, वह मुक्त हो जाता है। महावीर इसी द्रष्टाभाव के आधार पर कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनों को स्वतंत्र नहीं मानते थे। इसीलिए महावीर ज्ञानयोगी कहलाए, वह ज्ञान जो दिशा बताए और आचरण का शोधन करे। भक्ति रजोगुण से भी आ सकती है, परंतु आत्मज्ञान बिना सतोगुण नहीं आता।

ज्ञान-विराधना

प्रमाद, आलस्य, अनुत्साह, मूर्च्छा, अज्ञान, विकथा आदि सब व्रतों की खंडना, मलिनता, विराधना के कारण हैं। ज्ञान की विराधना से तात्पर्य है उसकी उपयोगिता नहीं समझना, ज्ञान के अतिचारों का सेवन करना तथा ज्ञान एवं ज्ञानी की अवज्ञा करना। यथा—अविधि से ज्ञान की आराधना करना। ज्ञान के प्रति उदासीन रहना। ज्ञानी की आशातना करना। ज्ञान के उपकरणों का दुरुपयोग करना। खुले मुंह पढ़ना-पढ़ाना। कंठस्थ ज्ञान का पुनरावर्तन करना। आहार-विहार करते समय स्वाध्याय करना। शास्त्रों को लोभ एवं द्वेषवश बेचना। अशुद्ध उच्चारण करना। थूक से पन्ने पलटना। अविनय से ज्ञान देना। स्वाध्याय कर रहे व्यक्ति को बार-बार बीच में उठाना। अस्थान और असमय में स्वाध्याय करना।

ज्ञान-विराधना का प्रायश्चित हो, इसका स्थान-स्थान पर उल्लेख है। जीतकल्प के अनुसार—

आठ आचार की देश-विराधना के प्रायश्चित के लिए आयंबिल तप तथा आठ आचार की पूर्ण विराधना के प्रायश्चित के लिए उपवास तप का उल्लेख है।

स्थानांग के अनुसार

सामान्य विराधना के लिए एकाशन पूर्वार्ध (आधा दिन), विशेष विराधना के लिए आयंबिल, आहार-विहार के समय स्वाध्याय के लिए नीवी, स्वाध्याय में विघ्न करने पर—आधा दिन तप और अन्य विराधना पर—पूर्वार्ध, एकाशन, नीवी।

ज्ञान-विराधना से उपार्जित कर्मों की शुद्धि के लिए आचार्यों ने अनेक उपाय बताए हैं—उनमें एक उपाय है 'श्रुतपंचमी-ज्ञानपंचमी' की आराधना। उदाहरण के लिए वर और गुणमंजरी का आख्यान महान प्रेरणादाई है।

दर्शन-आराधना और विराधना

आत्मा के प्रति, आत्म-प्राप्ति के उपायों के प्रति और अपने पवित्र ध्येय, इष्ट के प्रति समर्पित होना, आस्थावान होना दर्शन की आराधना है। शंका आदि सम्यक्त्व के आठ अतिचारों से बचना इसका फलित है। ये हैं—1. निःशंकित, 2. निष्कांक्षित, 3. निर्विचिकित्सित, 4. अमूढ़दृष्टि, 5. उपबृंहण, 6. स्थिरीकरण, 7. वात्सल्य, 8. प्रभावना।

शंका, कांक्षा के सामान्य सेवन पर प्रायश्चित के रूप में पूर्वार्ध, एकाशन, आयंबिल। देव, गुरु की सविधि वंदना नहीं करने पर पूर्वार्ध (आधा दिन)। धर्म स्थान में तांबूल खाने पर प्रायश्चित के बतौर आयंबिल और उपवास तथा साधर्मिक के साथ अप्रीति होने पर जघन्य एकाशन जैसे प्रायश्चित का उल्लेख है।

विशेष अप्रीति होने पर आयंबिल और उपवास का उल्लेख है।

चरित्राराधना और विराधना

ज्ञान और दर्शन की निर्मल आराधना चरित्राराधना को जन्म देती है और चरित्र की आराधना ज्ञान और दर्शन को पवित्र, सुस्थिर व सबल बनाती है। चरित्राराधना आचार, विचार और संयत व्यवहार तीनों से संबंधित है। पांच महाव्रतों की निरतिचार पालना हो, इसके साथ समिति व गुप्ति की आराधना हो, मुनि की सारी जीवनचर्या उपयोग-पूर्वक हो, उपयोगशून्य क्रिया भवच्छेदनी नहीं बनती। द्रव्य क्रिया से न पुराने संस्कार, विकार उखड़ते हैं और न नए संस्कार जमते हैं।

भगवान ने चरित्र की अखंड आराधना को एक रूपक के द्वारा विवेचित किया है। चार प्रकार के कुंभ (घट) होते हैं—1. अपरिश्रावी घट—(पूर्ण पक्का घट) निरतिचार, निर्मल चारित्र पालने वाले। 2. परिश्रावी घट—(अर्धकच्चा) जैसे अपक्व घट से पानी झरता है वैसे दोष लगाते रहने वाला सदोष चारित्री। 3. जर्जर घट—(तरेर वाला) जिसका 'चारित्र-घट' दोष लगाने के कारण जगह-जगह से जर्जरित हो चुका है। 4. भिन्न घट—(फूटा हुआ घड़ा) जिसका चारित्र-घट महाव्रतों में गहरी चोट लगने के कारण फूट चुका है।

भगवान ने कहा है—मुनि किसी भी स्थिति में चारित्र की विराधना न करे। जो मुनि चारित्र की आराधना में अपने पूर्ण बल-वीर्य का उपयोग करतें हैं वे पूर्ण आराधक होते हैं। शेष विराधक।

अणिगूहन्तो वीरियं, ण विराहेज्ज चरणं तव सुएसु।
जइ संजमेवि वीरियं, ण णिगूहिज्जा णं हाविज्जा।।

चारित्र के महत्त्व पर लिखा गया है—प्रायश्चित के बिना जैसे चारित्र निर्मल नहीं रह सकता वैसे ही चारित्र के बिना तीर्थ जीवित नहीं रह सकता। इक्कीस हजार वर्ष तक प्रभु का तीर्थ चलेगा यह घोषणा चरित्र धर्म पर आधारित है। यदि तीर्थ का अर्थ ज्ञान और दर्शन-प्रधान होता तो अवधि और अधिक लंबी होती, क्योंकि ज्ञान, दर्शन संपन्न आत्माएं देव, नारक और मनुष्य भव—तीनों में होती है। यह सारा वर्णन चारित्राश्रित तीर्थ का है।

संयम विराधना के कारण

संयम विराधना के अनेक प्रकार हैं—उनमें मुख्य है कषाय। सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णन है—यदि सरस एवं सफल जीवन जीना है तो 'उपशांत-स्वभावी' रहना जरूरी है।

छन्नं च पसंसणो करे ण य उक्कोस पगास माहणे।
तेसिं सुविवेग माहियं पणया जेहिं सजोसियं धुटां।।

जो साधक प्रकाश, उत्कर्ष, छन्न और प्रशंसा नहीं करते वे अपने संयम को सफल करते हैं। कषाय के नाम तो कितने सुंदर हैं, परंतु काम आत्म-पतन के हैं। जब आदमी का विवेक लुप्त होता है तब कषाय प्रबल होते हैं। चारित्र का मूल अकषाय है। जैसे-जैसे कषाय अल्प, अल्पतर एवं अल्पतम होता है वैसे-वैसे चारित्र विशुद्ध, विशुद्धतम होता जाता है। कहा भी है—

अकषायं तु चरित्रं कषायसहितो ण संजमो होति।

संयम कभी सकषाय नहीं होता। अतः कषाय-रहित होना ही संयम है जिनकी कषाएं उत्कृष्ट हैं उनका श्रामण्य इक्षु पुष्प की तरह निष्फल है।

'सामण्णमणुचरंतस्स, कसायाजस्स उक्कड़ा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व णिप्फलं तस्स सामण्णं।।

आलोचना का शब्दार्थ—

जैसा स्वयं जानें, वैसा औरों के सामने प्रकट करना आलोचना है—**'आलोयणा णाम जहा अप्पणो जाणति तहा परस्स पागडं करेति'** आलोचना जीवन-स्पर्शी शब्द है। आलोचना शब्द का अर्थ है—आंख, वह आंख जो जीवन को चारों ओर से देखती है, अथवा यों कहना चाहिए कि वह आलोच्य विषय को देखती है। बाहरी स्तर पर शरीर की आंख और भीतरी स्तर पर मन की आंख (माइंड

आई)—इसी का नाम आलोचना है। गुरु के सामने स्पष्टता और पूर्णता के साथ सब दोषों का प्रकाश करना आलोचना है—**'अभिविधिना सकल दोषाणां गुरु पुरतः प्रकाशना आलोचना'** (भगवती टीका)। अपने द्वारा किए गए प्रत्येक अकार्य का—तीनों योगों का विशुद्धिपूर्वक आचार्य को निवेदन करना आलोचना है। (धर्म संग्रह)

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है—आलोचना नाम-प्रकटना, रिजु भावना—जब भाव सरल होते हैं, तब आलोचना स्वतः निष्पन्न हो जाती है। यदि भाव मायावी हैं तो बार-बार की हुई आलोचना भी निष्फल हो जाती है।

ओघनिर्युक्ति में लिखा है—'लोचनं आचार्यादि दर्शनं आलोचना'। आलोचना के लिए इस ग्रंथ में अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख है। आलोचना, विकटना, शुद्धि, सद्भाव-दर्शन, शल्युद्धरण निंदा, गर्हा, विकुट्टना।

आलोयणा वियट्टणा, सोही, सधभाव दायणा चेव।
निंदा गरिहा विउट्टा, सल्लुद्धरणा य एगट्ठा।। (ओघनि.)

आलोचना किसलिए—

जीवन में स्खलना होना सहज स्वाभाविक है, किंतु स्खलित होने के बाद पुनः संभलने का साहस आलोचना है। आत्मालोचन की धार जितनी तीखी होती है, साधक उतना ही शीघ्र प्रशस्त बन जाता है। वह जानता है कि अन्तःकरण की पवित्रता के लिए जैसे सड़े-गले फलों को शेष-फलों की रक्षा के लिए दूर करना जरूरी होता है, वैसे ही भूलों को, कमजोरियों को चुनकर एकत्र करना और फिर उनकी विशुद्धि करना जरूरी होता है।

आलोचना से आठ लाभ—1. **लघुता**—भार उतारने से भारवाहक को जैसे आराम मिलता है वैसे ही शल्य निकल जाने के बाद शरीर और मन दोनों को एक साथ हल्केपन का अनुभव होता है। 2. **आह्लाद जनन**—आलोचक के मन में शुद्ध होने के बाद अपूर्व आनंद का अनुभव होता है। 3. **स्व - पर दोष निवृत्ति**—एक साधक को प्रायश्चित करते हुए देखकर अन्य साधकों को भूल सुधारने की सकल प्रेरणा मिलती है। 4. **आर्जव**—सरलतापूर्वक आलोचना करने से जीवन की सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं। 5. **शोधि**—अतिचार-मल के उतर जाने से आत्मा की चमक, क्षयोपशम भाव बढ़ता है। 6. **दुष्करकरण**—उलझी जीवन-जटा को किसी के सामने सुलझाना महान दुष्कर कार्य है। निशीथ भाष्य में लिखा है— **'न दुष्करं जं न पडिसेविज्जइ, दुष्करं तं जं आलोएज्जइ'** दोष का सेवन करना दुष्कर नहीं है किंतु दुष्कर है पुनः सुधार करना। 7. **आज्ञा**—सम्यक् चारित्र का पालन करना व भूल की आलोचना करना भगवान की आज्ञा में है। अतः ऐसा करने से भगवान की आज्ञा का पालन होता है तथा आज्ञा की आराधना से आचार्य प्रसन्न होते हैं। 8. **निःशल्यत्व**— अंतर में किसी प्रकार का शल्य नहीं रहने से सम्यक् आत्मशांति, परमशांति का अनुभव करता है।

आत्मबल और आलोचना—आत्मालोचन हर एक प्राणी नहीं कर सकता। उसमें कुछ अर्हताएं होनी चाहिए—

अट्ठहिं ठाणेहिं सम्पन्ने अणगारे अरिहइ अत्त दोसं आलाएत्तए जाइ सम्पन्ने, कुलसम्पन्ने, विणय सम्पन्ने, नाण सम्पन्ने, दंसण सम्पन्ने, चरित्र सम्पन्ने, खंते, दन्ते। 'स्थानांग ' (8)

भगवान ने कहा है जो जातिसंपन्न, कुलसंपन्न, विनयसंपन्न, ज्ञानसंपन्न, दर्शनसंपन्न, चारित्रसंपन्न, क्षमाशील और जितेंद्रिय है वही मुनि आत्मदोषों की आलोचना कर सकता है।

उपरोक्त कारणों में प्रथम दो कारण मातृपक्ष एवं पितृपक्ष से संबंधित हैं। शेष कारण आत्मशक्ति-आत्मबल के परिचायक हैं।

साधना के सूत्र हैं—

आलोचक का मन सरल होना चाहिए। कुटिलता के कारण अनेक गलतियां होती हैं। आलोचक का मन अनासक्त होना चाहिए। आलोच्य अधिकांश दोष, आसक्ति एवं स्वार्थ से उत्पन्न होते हैं। आलोचक का मन निरभिमान होना चाहिए, क्योंकि अभिमानी अपनी भूलों को न तो स्वीकार करता है और न ही संशोधित। आलोचक का स्वभाव उतावला नहीं होना चाहिए। प्रमादी, आलसी नहीं होना चाहिए, क्योंकि अधिकांश गलतियां प्रमाद के कारण होती हैं। आलोचक का मन भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि डरपोक व्यक्ति अपने मन को किसी के सामने खोल नहीं सकता। आलोचक का मन पापभीरु होना चाहिए। जो कृत पाप से नहीं डरता वह आत्मालोचना क्यों करेगा? आलोचक के मन में यह विचार होना चाहिए कि अपना कांटा अपने द्वारा नहीं निकाला जा सकता। भले प्रायश्चित विधि का ज्ञाता हो, परंतु अपने साथ बिना गुरु साक्षी के न्याय नहीं कर सकता। जैसे कुशल वैद्य अपने द्वारा अपनी चिकित्सा नहीं कर सकता—

जह कुसलोविवेज्जो, अन्नस्स कहेहि अप्पणो वाहिं।
विज्जस्सय सोयंवो पडिकम्म समारभतो।।
(ओघनि.)

इसलिए मुझे आत्मज्वर की चिकित्सा करने के लिए किसी कुशल वैद्य की तरह गीतार्थ के पास जाना चाहिए।

आलोचक परीक्षा विधि—

प्रतिक्रमण—भूलों से वापस लौटने की, प्रतिक्रमण रूप-प्रायश्चित लेने की प्रवृत्ति कितनी है? जीवन के प्रति साधक कितना जागरूक है, इस संशोधन वृत्ति से अनुमान लगाया जा सकता है।

स्वाध्याय—स्वाध्याय केवल समययापन का साधन न होकर अध्यात्म जागरण एवं बुद्धि परिष्कार का साधन है। जिस साधक के मन में स्वाध्याय का प्रेम नहीं है उसे प्रमाद छल लेता है। यदि कोई साधक निरंतर निर्मल ज्ञानाराधना करता है तो उसे आचार्य स्वल्प प्रायश्चित से ही शुद्ध कर देते हैं।

प्रतिलेखन—प्रतिलेखन भूमि का, उपकरण का और जीवन का भी होता है। आलोचक की प्रतिलेखन-पद्धति को देखकर आचार्य यह भली-भांति अनुमान लगा लेते हैं कि यह शिथिलाचारी है या संविग्न व्यवहारी।

भोजन—आचार्य कभी-कभी संतों की भोजन मंडली में जाकर यह देखा करते थे कि ये श्रमण मात्र संयम यात्रा के लिए आहार कर रहे हैं या लोलुपता-वश भोजन संबंधी दोषों का सेवन। कभी-कभी आचार्य लोलुप मुनियों को आयंबिल आदि तप करने की सलाह दिया करते थे। कभी-कभी आसक्त मुनियों को सावधान करने के लिए अन्य जागरूक मुनियों के बीच खाद्यासक्ति के दुष्परिणामों की चर्चा करके उनका मनोबल बढ़ाया करते थे और कभी-कभी स्वयं संयम करके शिथिल लोलुप मुनियों का पथ-दर्शन किया करते थे।

भाषा-प्रयोग—आलोचक का भाषा-प्रयोग कैसा है? यह बहुभाषी है या अल्पभाषी? इससे आचार्य आलोचक की मनःस्थिति का अनुमान लगाया करते थे।

संज्ञा भूमि—आचार्य देखते थे, आवस्सही निस्सही का प्रयोग, पाद-प्रमार्जन, चतुर्विंशति, समिति-गुप्ति की आराधना आदि संयम क्रियाएं सविधि आलोचक करता है या नहीं?

ग्लान-सेवा—सहानुभूति एवं संघीय समर्पण की भूमिका आलोचक के मन में कितनी प्रशस्त है—यह भी आचार्य देखते हैं।

भिक्षैषणा—आहार की गवेषणा, ग्रहणैषणा की विधि में आलोचक मुनि कितना जागरूक है—यह भी आचार्य देखा करते थे।

लगभग सभी आचार्य आलोचक के मुंह से आलोच्य-गलती को तीन बार सुना करते थे ताकि मनोवैज्ञानिक विधि से यह स्पष्टतया जाना जा सके कि आलोचक निष्कपट है या नहीं। परोक्ष ज्ञानी आचार्यों के लिए ये सारी विधियां आलोचक-शिष्य की मनःस्थिति जानने-समझने में विशेष सहयोग करती हैं। इसके साथ वे आलोचक के अंगस्फुरण, प्रकंपन, स्वरदृढ़ता, मुखाकृति, श्वसनक्रिया तथा उसकी धीरता, वाक्-स्पष्टता को देखकर आगे बढ़ते हैं, प्रायश्चित का निर्णय करते हैं।

आलोचनाचार्यों में यह भी सामर्थ्य होता है कि उपस्थित शिष्य मायापूर्वक आलोचना कर रहा है या सरलता से—इस बात को वे जान लेते हैं। यह भली-भांति जान लेने के बाद पहले वर्तमान मायाचरण का प्रायश्चित देते हैं फिर आलोचना काल में जो माया उभरी है—उसका। इसका प्रायश्चित किये बिना वह आलोचना लेकर भी पुनः वहीं पहुंच जाएगा, यह माया तत्क्षण उत्पन्न हुए महारोग जैसी है। इस माया रोग से ग्रस्त व्यक्ति न अपनी इस बीमारी को सह पाता है और न मिटा पाता है।

मूलाराधना में भी यही बात उल्लिखित है। क्षपक की मनःस्थिति जानने के लिए आचार्य तीन बार आलोच्य पापों को उसके मुंह से सुनते हैं। यह तीन बार पूछने की परंपरा बहुत प्राचीन रही है।

आलोचना कैसे करें—गुरु के सामने आलोचना करने से पहले दिशा का ज्ञान होना चाहिए। तीन दिशाओं का उपयोग करना विहित माना गया है। पूर्व, उत्तर और वारंती। जिस दिशा में तीर्थंकर, आचार्य आदि प्रभावक श्रमण विराजते हों, वह दिशा वारंती कहलाती है। आचार्य यदि पूर्व में विराजमान हो तो आलोचक उत्तर में बैठ जाएं। यदि आचार्य उत्तर में विराजमान हो तो स्वयं वामपार्श्व में बैठ जाएं और यदि दोनों के लिए अनुकूल योग न बैठे तो वारंती दिशा में बैठ जाएं। सामान्यतया आलोचक उकडू (उत्कटुक) आसन में बैठकर आलोचना की तैयारी करें। यदि लंबे समय तक उस आसन में बैठने की स्थिति न हो तो आज्ञा लेकर सामान्य आसन में बैठ जाएं।

वृहत् कल्प भाष्य में चार प्रकार की परिषद् का वर्णन है—

1. पूर्यन्तिका, 2. छत्रान्तिका, 3. राहष्यिकी, 4. मंत्रिपरिषद्। तीसरी परिषद् का अर्थ है गुरु के पास एकांत में बैठकर भावशल्यों का उद्धरण करने वाला शिष्य समूह। वह परिषद् चतुष्कर्णा, षटकर्णा एवं अष्टकर्णा के भेद से तीन

प्रकार की होती है।

आलोयणं पउंजइ, गारव परिवज्जियो गुरु सगासे।
एगंत भणावाए, एगो एगस्स निस्साए।।392 गाथा।

शिष्य जब एकांत में आचार्य के पास किसी तीसरे की अनुपस्थिति में आलोचना करता है—वह आलोचना परिषद् 'चतुष्कर्णा' कहलाती है। यही विधि गुरुजी के पास आलोचना करने वाली साध्वी के लिए है। यदि साध्वी आचार्य के पास आलोचना करती है तो वह परिषद् 'षटकर्णा' कहलाती है।

स्थविर आचार्य के पास आलोचना लेते समय दूसरे साधु की उपस्थिति होनी अनिवार्य नहीं होती, किंतु साध्वियों के लिए दो होने का विधान है। दूसरी साध्वी पास बैठने वाली कैसी होनी चाहिए। इस संदर्भ में कहा गया है कि—

नाणदंसण संपन्ना, पोढ़ा वयस परिणया।
इंगियागार संपन्ना, भणिया तीसे विइज्जिया।।

1. ज्ञान दर्शन आदि गुणों से युक्त हो। 2. अनुभव समृद्ध हो, ताकि दोनों के बीच अनावश्यक विलंब एवं अप्रासंगिक चर्चा को सुनकर यह पूछ सके कि क्या आलोचना कार्य संपन्न हो गया? यदि हो गया हो तो अब हम उपाश्रय चलें। यदि नहीं हुआ हो तो अभी अधिक रुकने की उपयोगिता नहीं है। 3. वह साध्वी अवस्था से परिपक्व हो। 4. इंगित आकार की ज्ञाता, विज्ञाता हो। साथ जाने वाली साध्वी कहां बैठे, इस विषय में आचार्यों के दो अभिमत रहे हैं। (1) जहां से आलोचक और आलोचना प्रदाता दोनों के चेहरे दिखाई दे सकें। (2) जहां से बातचीत ठीक-ठीक सुनाई दे सके।

तरुण आचार्य के पास आलोचना कैसे करें?

अष्टकर्णा परिषद् शास्त्रकार कहते हैं, तरुण आचार्य के पास आलोचना लेते समय दो साध्वियां तो होनी ही चाहिए। इसके साथ ही आचार्य के पास एक साधु भी रहना चाहिए। वह मुनि कैसा होना चाहिए? इसके उत्तर में लिखा है—

नाणेणं दंसणेणं च, चरित्त तव विणय आलय गुणेहिं।
वय परिणामेण य, अभिगमेण इयरो हवइ जुत्तो।।

इस प्रकार आलोचना लेते समय चतुष्कर्णा, षटकर्णा एवं अष्टकर्णा-परिषद् बनती है।

विनाभाव आलोचना नहीं—भगवती आराधना में यह प्रश्न पूछा गया है कि आलोचना निर्विशेष कैसे करनी चाहिए?

'कालेऽमकत्र देसे वा, जोगो भावनयानया।
दोसो ममेति विज्ञाय, त्वं आलोचय सर्वथा।।

आलोचना करते समय यह सोचे—मैंने अमुक दोष कहां, कैसे, किसके साथ और किस भावना से (तीव्रता, मंदता) सेवन किया है—यह प्रकट करें। इस ग्रंथ में आलोचना के मुख्य दो प्रकार बताएं हैं—ओघ-आलोचना और पदविभाग-आलोचना।

आलोयणा हु दुविहा, ओधेण य होदि पद विभागीय।
ओघेण मूलपत्तस्स, पयविभागी इयरस्स।।533।।

दोनों प्रकार की आलोचना करने का संक्षिप्त क्रम इस प्रकार है—

1. **ओघ आलोचना**—एक साथ अनेक पापों का प्रायश्चित करना 'ओध आलोचना' कहलाती है। जैसे कोई मुनि प्रमादवश संयम-भ्रष्ट होकर पुनः उसी दीक्षा पथ पर आना चाहे, उसे नई दीक्षा देकर साथ लिया जाता है। भले उसने कच्चा पानी पीया हो, कुछ व्रत खंडित किया हो, मूल प्रायश्चित में सभी पाप समा जाते हैं। सब दोषों का शोधन हो जाता है।

2. **पदविभागी आलोचना**—सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र संबंधी विराधनाओं का अलग-अलग भिन्न-भिन्न समय आलोचना करना पदविभागी आलोचना कहलाती है। उसका क्रम इस प्रकार है—

भंते! मैंने बहुत अपराध किए हैं। रत्नत्रय में अतिचार लगाए हैं। कभी सर्वव्रत भंग किया है। प्रभो! मैं आपकी साक्षी से इसलिए आलोचना करता हूं, मेरी माया का नाश हो जाए। मान-कषाय का अपनयन हो जाए। तीर्थंकरों एवं आचार्यों की आज्ञा का पूर्ण पालन हो जाए। मैं साधना में साधारण आज से पुनः जागरूक बनने की चेष्टा करूंगा। मेरे छोटे-बड़े सभी दोषों का एक-एक कर आप प्रायश्चित दिरावें।

णहं तह चलं भासं मूयं तह ढट्ठरं च वज्जेज्जा।
आलोएज्जा सुविहियो, हत्थं मत्थं च वावारं।।

आलोचना लेते समय आलोचक हाथ, मुंह, होठ, नेत्र तथा जंघा प्रकंपित नहीं करे। अवयव विशेष को नर्तित नहीं करे। मूक हूं-हूं भाषा में नहीं बोले और ढट्ठर-तेज भाषा में नहीं बोले। आलोचना लेते समय आलोचनाचार्य को यह बताना जरूरी होता है, किन-किन परिस्थितियों में इन दोषों का सेवन किया गया है। जैसे—

द्रव्य से—किस परिस्थिति में इस दोष का सेवन किया तथा सचित्त पदार्थों का उपयोग किया या अचित्त पदार्थों का?

क्षेत्र से—मार्ग में दोष-सेवन किया या गांव, शहर में? **काल से**—दिन में व्रत भंग किया या रात में? दुर्भिक्ष में किया या सुभिक्ष में? ग्रीष्मऋतु में किया या वर्षावास में? **भाव से**—ग्लान अवस्था में दोष सेवन किया या स्वस्थ अवस्था में? तीव्र आसक्ति से व्रत खंडित हुआ या असावधानी, अज्ञान से? आलोचक की सबसे बड़ी विशेषता है आर्षव-संपन्नता। आलोचक का एकमात्र ध्यान पवित्रता पर होना चाहिए। कितना दंड आएगा, बड़ा या छोटा, अपमानजनक होगा या घृणाजनक, ऐसी सारी चिंताओं से मुक्त होना चाहिए।

प्रतिष्ठा हमारा चारित्रिक वैभव है, कृत्रिम प्रतिष्ठाओं की प्राप्ति के लिए आज तक हमने बहुत किया है और बहुत सहा है, अब नहीं।

आलोचना के दस दोष

आलोचना करते समय निम्नोक्त दस बातों से अवश्य बचें—

1. **आकंपइत्ता**—मुझे गुरुदेव को प्रसन्न करना है, ताकि प्रसन्न गुरुदेव मुझे कम से कम दंड देंगे। दंड देते समय मेरा खयाल रखेंगे। 2. **अणुमाणइत्ता**—(अनुमान करना) प्रायश्चित देते समय जो कम दंड देने वाले हैं, उनकी खोज करना, अनुमान लगाना। कोमल-स्वभावी आचार्य का योग जब मिलेगा, तब मैं दंड लूंगा, इस प्रकार के सारे चिंतन सदोष हैं। 3. **दृष्ट**—जो दोष दिखाई दे रहे हैं, औरों की नजरों में आ चुके हैं, केवल उनकी आलोचना करना। 4. **स्थूल**—बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करना। आलोचक यह सोचकर छोटे दोषों को संकोच और भय से छुपा लेते हैं कि गुरुदेव क्या सोचेंगे? 5. **अतिसूक्ष्म**—आलोचक अपने प्रति अतिरिक्त विश्वास जमाने के लिए अत्यंत सूक्ष्म बातों की आलोचना करता है जिनकी सामान्यतः प्रतिक्रमण में आलोचना हो जाती है। 6. **छन्न दोष**—दोषों को छुपाने की भावना से अस्पष्ट एवं अतिधीमी आवाज में आलोचना करता है। 7. **शब्दाकुल**—औरों को सुनाते हुए जोर से आलोचना करता है। 8. **बहुजन**—अपनी पवित्रता, पापभीरुता दिखाने के लिए अनेक लोगों के बीच आलोचना करता है। 9. **अव्यक्त**—जो प्रायश्चित विधि के जानकार नहीं हैं, अर्गीतार्थ हैं उनसे दंड लेने की चेष्टा करना, क्योंकि वे कम दंड देंगे। 10. **तत्सेवी**— जो वर्तमान में उसी दोष का सेवन कर रहा है, अथवा कुछ दिन पहले कर चुका है, उनसे दंड लेना।

आलोचना करते समय यह संकल्प-दृढ़ता अवश्य होनी चाहिए कि मैं इस अनाचार का सेवन दुबारा नहीं करूंगा। आलोचना भावपूर्वक, संकल्पपूर्वक ही होनी चाहिए। इतिहास कहता है—धनेश्वरसूरि की तरह आलोचना करनी चाहिए। राजा कुमारपाल और मरूक दंड की कठोरता से कभी घबराए नहीं थे।

महाराज कुमारपाल बारहव्रती श्रावक थे एवं हेमचन्द्राचार्य के अनन्य उपासक थे। बारहव्रती श्रावक मांसाहार का सेवन नहीं कर सकता, किंतु एक बार मानसिक स्खलन हो गया। बड़े खाते समय अचानक मन में यह स्मृति जाग गई, एक दिन मैं ऐसे ही कड़े, बड़े खाया करता था, तत्काल संभल गए। सायं प्रतिक्रमण करके गुरुदेव की वंदना के लिए गए। दोष का उल्लेख करते हुए प्रायश्चित मांगा। उत्तर में हेमचंद्राचार्य ने कहा—जिन दांतों से तुमने बड़े खाए हैं—उस दंतपंक्ति को तोड़ दो। जैसे ही कुमारपाल ने दोनों मुट्ठियां बांधकर हाथ उठाए कि आचार्य ने हाथ यह कहते हुए थाम लिए कि प्रायश्चित हो गया। भाव से खाया था, भाव से प्रायश्चित हो गया।

इसी प्रकार दस दोषों का वर्णन मूलाराधना में मिलता है—

आकंपइत्ता—

सूरिं भक्तेन पानेन, प्रदानेनोप कारिणा।
पिनयेन अनुकंम्प्य स्वदोषं वदति कश्चन।।

इस दोष दृष्ट आलोचना से आत्मशुद्धि नहीं होती। कृमिराग से रंगा हुआ वस्त्र जैसे बहुत धोने पर भी अपना लाल रंग नहीं छोड़ता, वैसे ही मायायुक्त आलोचना से मन का मेल नहीं धुलता। कल्पना करें कि यदि कभी इस रंग से रंगा हुआ वस्त्र भी स्वच्छ, सफेद हो जाए, परंतु इस माया मिश्रित आलोचना से मन कभी निर्मल नहीं हो सकता।

अनुमान दोष—जो स्वयं को छुपाने के लिए यह प्रार्थना करता है, प्रभो! मैं अत्यंत दुर्बल हूं। मेरा पाचन बहुत कमजोर है। मेरे अवयव कृश हैं। मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है, यदि आप मुझे थोड़ा प्रायश्चित देंगे तो मैं धीरे-धीरे सब पापों की आलोचना कर लूंगा, अन्यथा नहीं करूंगा।

दृष्ट—माया से आलोचना करने का मतलब हुआ जैसे मकान की नींव खोदते समय मनुष्य तत्काल उस बालुका से भर जाता है। केवल छोटे या केवल बड़े दोषों की आलोचना करने का अर्थ है—कांस्य धातु का बना हुआ कमंडल बाहर से सुंदर और भीतर से मलिन रहता है वैसे ही ऐसी आलोचना करने वाला माया से मलिन रहता है। इसी प्रकार दस दोषों का वर्णन उपलब्ध है।

सूत्रकृतांग में तेरह क्रियास्थानों का सारगर्भित वर्णन मिलता है जिसमें ग्यारहवां क्रियास्थान है मायाप्रत्यय। मायाप्रत्यय का वर्णन इस प्रकार है—

जे इमे भवंति गूढ़ायारा तमोकसिया उलूगपत्तलहुया पव्वयगुरुया, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ पडंजंति, अण्णहा संतं अप्पाणं अण्पाहा मण्णंति अण्णं पुट्ठा अण्णं वागरेंति, अण्णं आइक्खियव्वं अण्णं आइक्खंति।

से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो संयं णीहरति, णो अण्णेण णीहरावेंति, णो पडिविद्धंसेति, एवमेव णिण्हवेति, अविउट्टमाणे अंतो—अंतो रियाति, एवमेव माई मायं कट्टु णो आलोएइ, णे पडिक्क्मेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ।

माई अस्सिं लोए पच्चायाति, माई परंसि लोए पच्चायाति, णिंदइ, पसंसति, णिच्चरति, ण णियट्टति, णिसिरिया दंडं छाएइ, माई असमाहड सुहलेस्से यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।

जो रहस्यमय आचार वाला, अंधेरे में दुराचार करने वाला, उल्लू के पंख की भांति हल्के और पर्वत की भांति भारी होते हैं—वे आर्य होते हुए भी अनार्य भाषाओं का प्रयोग करते हैं। वे होते कुछ और हैं और अपने आप को मानते कुछ और ही हैं। उनसे पूछा कुछ और ही जाता है, उत्तर कुछ और ही देते हैं। उन्हें कहना कुछ और ही होता है और वे कहते कुछ और ही हैं।

जैसे कोई भीतरी शल्य वाला पुरुष उस शल्य को न स्वयं निकालता है, न दूसरे से निकलवाता है और न उसे नष्ट करता है। वह उसे ऐसे ही छिपाता है। न निकलने पर वह शल्य भीतर ही भीतर गहरे में चला जाता है। इसी प्रकार मायावी पुरुष माया का आचरण कर आलोचना नहीं करता, निंदा नहीं करता, गर्हा नहीं करता, विवर्तन नहीं करता, विशोधन नहीं करता, पुनः न करने को अभ्युत्थित नहीं होता और न यथायोग्य तपःकर्म रूपी प्रायश्चित को स्वीकार करता है।

मायवी पुरुष (मृत्यु के उपरांत) इस लोक में जन्म लेता है तो वह साधारण कुल में उत्पन्न होता है। मायावी पुरुष (मृत्यु के उपरांत) परलोक में जन्म लेता है तो वह दुर्गति में उत्पन्न होता है। मायावी पुरुष दूसरों की निंदा और अपनी प्रशंसा करता है। ठगी में सफल होने पर और अधिक ठगी करने लग जाता है, माया से निवृत्त नहीं होता। दंड का प्रयोग कर उसे छिपा लेता है और वह अशुभ लेश्या से युक्त होता है। इस प्रकार उस मनुष्य के माया प्रत्यय के निमित्त से सावद्य होता है।

अब तक हमने यह भलीभांति आत्मसात कर लिया होगा, मायावी सदा असफल होता है। भले वह देवयोनि का प्रसंग हो या मानव योनि का, साधु जीवन हो या गृहस्थ जीवन। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

कहानी

वापसी

□ उषा प्रियंवदा □

लेटे हुए वह घर के अंदर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी-सी झड़प, बाल्टी पर खुले नल की आवाज, रसोई के बर्तनों की खटपट और उसी में दो गौरैयों का वार्तालाप—और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दखल न देंगे। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई की जगह यहीं है, तो यहीं पड़े रहेंगे, अगर कहीं और डाल दी गई, तो वहीं चले जाएंगे। यदि बच्चों के जीवन में उनके लिए कहीं स्थान नहीं, तो अपने ही घर में परदेशी की तरह पड़े रहेंगे...और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोले।

गजाधर बाबू ने कमरे में जमा सामान पर एक नजर दौड़ाई—दो बक्स, डोलची, बाल्टी। 'यह डिब्बा कैसा है, गनेशी?' उन्होंने पूछा। गनेशी बिस्तर बांधता हुआ, कुछ गर्व, कुछ दुख, कुछ लज्जा से बोला, 'घरवाली ने साथ में कुछ बेसन के लड्डू रख दिए हैं। कहा, बाबूजी को पसंद थे, अब कहां हम गरीब लोग आपकी कुछ खातिर कर पाएंगे।' घर जाने की खुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया, जैसे एक परिचित, स्नेह-आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।

'कभी-कभी हम लोगों की खबर लेते रहिएगा।' गनेशी बिस्तर में रस्सी बांधता हुआ बोला।

'कभी कुछ जरूरत हो तो लिखना गनेशी, इस अगहन तक बिटिया की शादी कर दो।'

गनेशी ने अंगोछे के छोर से आंखें पोंछीं, 'अब आप लोग सहारा न देंगे, तो कौन देगा? आप यहां रहते तो शादी में कुछ हौंसला रहता।'

गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेलवे क्वार्टर का वह कमरा जिसमें उन्होंने कितने वर्ष बिताए थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था। आंगन में रोपे पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गए थे और जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी व बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया।

गजाधर बाबू खुश थे, पैंतीस साल की नौकरी के बाद वह रिटायर होकर जा रहे थे। इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रहकर काटा था। उन अकेले क्षणों में उन्होंने इसी समय की कल्पना की थी, जब वह अपने परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे। संसार की दृष्टि में उनका जीवन सफल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में एक मकान बनवा लिया था, बड़े लड़के अमर और लड़की कान्ति की शादियां कर दी थीं, दो बच्चे ऊंची कक्षाओं में पढ़ रहे थे। गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशनों पर रहे और उनके बच्चे और पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हंसते-बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते। उन सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठा। खाली क्षणों में उनसे घर में टिका न जाता। कवि प्रकृति के न होने पर भी उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद आती रहतीं। दोपहर में गर्मी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाए रहती और उनके स्टेशन से वापस आने पर गर्म-गर्म रोटियां सेंकती, उनके खा चुकने और मना करने पर भी थोड़ा-सा कुछ और थाली में परोस देती और बड़े प्यार से आग्रह करती। जब वह थके-हारे बाहर से आते, तो उनकी आहट पर वह रसोई के द्वार पर निकल आती और उनकी सलज्ज आंखें मुस्करा उठतीं। गजाधर बाबू को तब हर छोटी बात भी याद आती और वह उदास हो उठते...अब

कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

टोपी उतारकर गजाधर बाबू ने चारपाई पर रख दी, जूते खोलकर नीचे खिसका दिए, अंदर से रह-रहकर कहकहों की आवाज आ रही थी, इतवार का दिन था और उनके सब बच्चे इकट्ठे होकर नाश्ता कर रहे थे। गजाधर बाबू के सूखे चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान आ गई। उसी तरह मुस्काते हुए, वह बिना खांसे हुए अंदर चले गए। उन्होंने देखा कि नरेन्द्र कमर पर हाथ रखे शायद गत रात्रि की फिल्म में देखे गए किसी नृत्य की नकल कर रहा था और बसन्ती हंस-हंसकर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आंचल या घूंघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त रूप से हंस रही थी। गजाधर बाबू को देखते ही नरेन्द्र धप से बैठ गया और चाय का प्याला उठाकर मुंह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढंक लिया, केवल बसन्ती का शरीर रह-रहकर हंसी के प्रयत्न में हिलता रहा।

गजाधर बाबू ने मुस्कराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, 'क्यों नरेन्द्र, क्या नकल हो रही थी?'

'कुछ नहीं, बाबूजी।' नरेन्द्र ने सिटपिटाकर कहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुंठित हो चुप हो गए, इससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आई। बैठते हुए बोले, 'बसन्ती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्मा की पूजा अभी चल रही है क्या?'

बसन्ती ने मां की कोठरी की ओर देखा, अभी आती ही होंगी और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गई थी, अब नरेन्द्र भी चाय का आखिरी घूंट पीकर उठ खड़ा हुआ। केवल बसन्ती, पिता के लिहाज में, चौके में बैठी मां की राह देखने लगी। गजाधर बाबू ने एक घूंट चाय पी, फिर कहा, 'बेटी, चाय तो फीकी है।'

'लाइए, चीनी और डाल दूं।' बसन्ती बोली।

'रहने दो, तुम्हारी अम्मा जब आएगी, तभी पी लूंगा।'

थोड़ी देर में उनकी पत्नी हाथ में अर्घ्य का लोटा लिए निकली और अशुद्ध स्तुति कहते हुए तुलसी में डाल दिया। उन्हें देखते ही बसन्ती भी उठ गई। पत्नी ने आकर गजाधर बाबू को देखा और कहा, 'अरे, आप अकेले बैठे हैं। ये सब कहां गए?' गजाधर बाबू के मन में फांस-सी कसक उठी, 'अपने-अपने काम लग गए हैं—आखिर बच्चे ही हैं।'

पत्नी आकर चौके में बैठ गई। उन्होंने नाक-भौं चढ़ाकर चारों ओर जूठे बर्तनों को देखा। फिर कहा, 'सारे जूठे बर्तन पड़े हैं। इस घर में धरम-करम कुछ नहीं। पूजा करके सीधे चौके में घुसो।' फिर उन्होंने नौकर को पुकारा, जब उत्तर न मिला तो एक बार और उच्च स्वर में, फिर पति की ओर देखकर बोली, 'बहू ने भेजा होगा बाजार।' और एक लम्बी सांस लेकर चुप हो रही।

गजाधर बाबू बैठकर चाय और नाश्ते का इंतजार करते रहे। उन्हें अचानक ही गनेशी की याद आ गई। रोज सुबह, पैसेंजर आने से पहले, वह गर्म-गर्म पूरियां और जलेबी बनाता था। गजाधर बाबू जब तक उठकर तैयार होते, उनके लिए जलेबियां और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया, कांच के गिलास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुंचे, गनेशी ने चाय पहुंचाने में कभी देर नहीं की। क्या मजाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े।

पत्नी का शिकायतभरा स्वर सुन उनके विचारों में व्याघात पहुंचा। यह कह रही थी, 'सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इसी गृहस्थी का धंधा पीटते-पीटते उम्र बीत गई। कोई जरा हाथ भी नहीं बंटाता।'

'बहू क्या किया करती है?' गजाधर बाबू ने पूछा।

'पड़ी रहती है। बसन्ती को कहो तो, कहेगी कि कालेज जाना होता है।'

गजाधर बाबू ने जोश में आकर बसन्ती को आवाज दी। बसन्ती भाभी के कमरे से निकली तो गजाधर बाबू ने कहा, 'बसन्ती, आज से शाम का खाना बनाने की जिम्मेदारी तुम पर है। सुबह का भोजन तुम्हारी भाभी बनाएगी।'

बसन्ती मुंह लटकाकर बोली, 'बाबूजी, पढ़ना भी तो होता है।'

गजाधर बाबू ने बड़े प्यार से समझाया, 'तुम सुबह पढ़ लिया करो। तुम्हारी मां बूढ़ी हुई, उनके शरीर में अब वह शक्ति नहीं बची है। तुम हो, तुम्हारी भाभी है, दोनों को मिलकर काम में हाथ बंटाना चाहिए।'

बसन्ती चुप रह गई। उसके जाने के बाद, उसकी मां ने धीरे से कहा, 'पढ़ने का तो बहाना है। कभी जी ही नहीं लगता। लगे कैसे? शीला से ही फुरसत नहीं। बड़े-बड़े लड़के हैं उस घर में। हर वक्त वहां घुसे रहना मुझे नहीं सुहाता। मना करूं तो सुनती नहीं।'

घर में गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थाई प्रबंध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गई

थी। गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े कभी-कभी अनायास ही, इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और लक्ष्य की ओर चली जातीं।

घर छोटा होने के कारण बैठक में ही अब वह प्रबंध किया गया था। उनकी पत्नी के पास अंदर एक छोटा कमरा अवश्य था, पर वह एक ओर अचारों के मर्तबानों, दाल, चावल के कनस्तरों और घी के डिब्बों से घिरा था—दूसरी ओर पुरानी रजाइयां, दरियों में लिपटी और रस्सी से बंधी रखी थीं, उसके पास एक बड़े-से टीन के बक्स में घर-भर के गर्म कपड़े थे। बीच में एक अलगनी बंधी हुई थी, जिस पर प्रायः बसन्ती के कपड़े लापरवाही से पड़े रहते थे। वह भरसक उस कमरे में नहीं जाते थे। घर का दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू के पास था। तीसरा कमरा, जो सामने की ओर था, बैठक था। गजाधर बाबू के आने से पहले उसमें अमर की ससुराल से आया बेंत की तीन कुर्सियों का सेट पड़ा था। कुर्सियों पर नीली गद्दियों और बहू के हाथों के कढ़े कुशन थे।

जब कभी उनकी पत्नी को कोई लंबी शिकायत करनी होती, तो अपनी चटाई बैठक में डाल, पड़ जाती थीं। तो वह एक दिन चटाई लेकर आ गई। गजाधर बाबू ने घर-गृहस्थी की बातें छेड़ीं, वह घर का रवैया देख रहे थे। बहुत हलके-से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ खर्च कम होना चाहिए।

'सभी खर्च तो वाजिब-वाजिब हैं, किसका पेट काटूं? यही जोड़-गांठ करते-करते बूढ़ी हो गई, न मन का पहना, न ओढ़ा।'

गजाधर बाबू ने आहत-विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करती, यह स्वाभाविक था, लेकिन उसमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खटका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबंध कैसे हो, तो उन्हें चिंता कम, संतोष अधिक होता। लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही जिम्मेदार थे।

'तुम्हें किस बात की कमी है, अमर की मां? घर में बहू है, लड़के-बच्चे हैं, सिर्फ रुपए से ही आदमी अमीर नहीं होता।' गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुभव किया कि यह उनकी आंतरिक अभिव्यक्ति थी, ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकती। 'हां, बड़ा सुख है न बहू से! आज रसोई करने गई है, देखो क्या होता है।' कहकर पत्नी ने आंखें मूंदीं और सो गई। गजाधर बाबू बैठे हुए पत्नी को देखते रह गए। यही थी क्या उनकी पत्नी, जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुस्कान की याद में उन्होंने संपूर्ण जीवन काट लिया था। उन्हें लगा कि वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गई और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राणों के लिए नितांत अपरिचित है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी-सा शरीर बहुत बेडौल और कुरूप लग रहा था, चेहरा श्रीहीन और रूखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्संग दृष्टि से पत्नी को देखते रहे और फिर लेटकर छत की ओर ताकने लगे।

अंदर कुछ गिरा और उनकी पत्नी हड़बड़ाकर उठ बैठीं, 'लो बिल्ली ने कुछ गिरा दिया शायद', और वह अंदर भागीं। थोड़ी देर में लौटकर आई तो उनका मुंह फूला हुआ था, 'देखा बहू को, खुला छोड़ आई, बिल्ली ने दाल की पतीली गिरा दी। सभी तो खाने को हैं, अब क्या खिलाऊंगी?' वह सांस लेने को रुकी और बोली, 'एक तरकारी और चार परांठे में सारा डिब्बा घी उड़ेलकर रख दिया। जरा-सा दर्द नहीं है, कमाने वाला हाड़ तोड़े और यहां चीजें लुटें। मुझे तो मालूम था कि यह सब काम किसी के वश का नहीं है।'

गजाधर बाबू को लगा कि पत्नी कुछ और बोलेंगी तो उनके कान झनझना उठेंगे। होंठ भींच, करवट लेकर उन्होंने पत्नी की ओर पीठ कर ली।

रात का भोजन बसन्ती ने जान-बूझकर ऐसा बनाया था कि कौर तक निगला न जा सके। गजाधर बाबू खाकर उठ गए, पर नरेन्द्र थाली सरकाकर उठ खड़ा हुआ और बोला, 'मैं ऐसा खाना नहीं खा सकता।'

बसन्ती तुनककर बोली, 'तो न खाओ, कौन तुम्हारी खुशामद करता है?'

'तुमसे खाना बनाने को कहा किसने था?' नरेन्द्र चिल्लाया।

'बाबूजी ने।'

'बाबूजी को बैठे-बैठे यही सूझता है।'

बसन्ती को उठाकर मां ने नरेन्द्र को मनाया और अपने हाथ से कुछ बनाकर खिलाया। गजाधर बाबू ने बाद में पत्नी से कहा, 'इतनी बड़ी लड़की हो गई और उसे खाना बनाने तक का शऊर नहीं आया?'

'अरे आता सब-कुछ है, करना नहीं चाहती।' पत्नी ने उत्तर दिया। अगली शाम मां को रसोई में देख, कपड़े

बदलकर बसन्ती बाहर आई तो बैठक से गजाधर बाबू ने टोक दिया, 'कहां जा रही हो?'

'पड़ोस में, शीला के घर।' बसन्ती ने कहा।

'कोई जरूरत नहीं है, अंदर जाकर पढ़ो।' गजाधर बाबू ने कड़े स्वर में कहा। कुछ देर अनिश्चित खड़े रहकर बसन्ती अंदर चली गई। गजाधर बाबू शाम को रोज टहलने चले जाते थे, लौटकर आए तो पत्नी ने कहा, 'क्या कह दिया बसन्ती से? शाम से मुंह लपेटे पड़ी है। खाना भी नहीं खाया।'

गजाधर बाबू खिन्न हो आए। पत्नी की बात का उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि बसन्ती की शादी जल्दी ही कर देनी है। उस दिन के बाद बसन्ती पिताजी से बची-बची रहने लगी। जाना होता, पिछवाड़े से जाती। गजाधर बाबू ने दो-एक बार पत्नी से पूछा तो उत्तर मिला, 'रूठी हुई है।' गजाधर बाबू को और रोष हुआ। लड़की के इतने मिजाज! जाने को रोक दिया तो पिता से बोलेगी नहीं? फिर उनकी पत्नी ने ही सूचना दी कि अमर अलग रहने की सोच रहा है।

'क्यों?' गजाधर बाबू ने चकित होकर पूछा।

पत्नी ने साफ-साफ उत्तर नहीं दिया। अमर और उसकी बहू को शिकायतें बहुत थीं। उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, कोई आने-जाने वाला हो तो कहीं बैठाने की जगह नहीं। अमर को अब भी वह छोटा-सा समझते थे और मौके-बेमौके टोक देते थे। बहू को काम करना पड़ता था और सास जब-तब फूहड़पन पर ताने देती रहती थी। 'हमारे आने के पहले भी कभी ऐसी बात हुई थी?' गजाधर बाबू ने पूछा। पत्नी ने सिर हिलाकर जताया, 'नहीं'! पहले अमर घर का मालिक बनकर रहता था, बहू को कोई रोक-टोक न थी। अमर के दोस्तों का प्रायः यहीं अड्डा जमा रहता था और अंदर से नाश्ता-चाय तैयार होकर जाता रहता था। बसन्ती को भी वही अच्छा लगता था।

गजाधर बाबू ने बहुत धीरे से कहा, 'अमर से कहो, जल्दबाजी की कोई जरूरत नहीं है।'

अगले दिन वह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है। अंदर आकर पूछने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि रसोई के अंदर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने यह कहने को मुंह खोला कि बहू कहां है, पर कुछ याद कर चुप हो गए। पत्नी की कोठरी में झांका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पाई। गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टांगने को दीवार पर नजर दौड़ाई। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसकाकर, एक किनारे टांग दिया। कुछ खाए बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गए। कुछ भी हो, तन आखिरकार बूढ़ा ही था। सुबह-शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते-आते थक उठते थे। गजाधर बाबू को अपना बड़ा-सा खुला हुआ क्वार्टर याद आ गया। निश्चिंत जीवन, सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिरपरिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट्-खट् जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह था। तूफान और डाकगाड़ी के इंजिनों की चिंघाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थीं। सेठ रामजीमल की मिल के कुछ लोग कभी-कभी पास आ बैठते—वही उनका दायरा था, वही उनके साथी। वह जीवन अब उन्हें एक खोई निधि-सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह जिंदगी द्वारा ठगे गए हैं। उन्होंने जो-कुछ चाहा, उसमें से उन्हें एक बूंद भी न मिली।

लेटे हुए वह घर के अंदर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी-सी झड़प, बाल्टी पर खुले नल की आवाज, रसोई के बर्तनों की खटपट और उसी में दो गौरैयों का वार्तालाप—और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दखल न देंगे। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई की जगह यहीं है, तो यहीं पड़े रहेंगे, अगर कहीं और डाल दी गई, तो वहीं चले जाएंगे। यदि बच्चों के जीवन में उनके लिए कहीं स्थान नहीं, तो अपने ही घर में परदेशी की तरह पड़े रहेंगे...और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोले। नरेन्द्र मांगने आया तो बिना कारण पूछे ही उसे रुपए दे दिए। बसन्ती काफी अंधेरा हो जाने के बाद भी पड़ोस में रही तो भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। पर उन्हें सबसे बड़ा गम यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन ही मन कितना भार ढो रहे हैं इससे वह अनजान ही बनी रहीं। बल्कि उन्हें पति के घर के मामले में हस्तक्षेप न करने के कारण शांति ही थी। कभी-कभी कह भी उठती, 'ठीक है, आप बीच में न पड़ा कीजिए। बच्चे बड़े हो गए हैं, हमारा जो कर्तव्य था, कर रहे हैं। पढ़ा रहे हैं, शादी कर देंगे।'

गजाधर बाबू ने आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी और बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त-मात्र हैं। जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी मांग में सिंदूर डालने की अधिकारी है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, उसके सामने वह दो वक्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्तव्यों से छुट्टी पा जाती है। वह घी, चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई है कि अब वही उसकी संपूर्ण दुनिया बन गई है। गजाधर बाबू उनके जीवन के केंद्र नहीं हो सकते।

उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गई।

इतने सब निश्चयों के बावजूद गजाधर बाबू एक दिन बीच में दखल दे बैठे। पत्नी स्वभावानुसार नौकर की शिकायत कर रही थी, 'कितना कामचोर है। बाजार की हर चीज में पैसा बनाता है। खाने बैठता है, तो खाता ही चला जाता है।' गजाधर बाबू को बराबर यह महसूस होता रहता था कि उनके घर का रहन-सहन और खर्च उनकी हैसियत से कहीं ज्यादा है। पत्नी की बात सुनकर लगा कि नौकर का खर्च बिल्कुल बेकार है। छोटा-मोटा काम है, घर में तीन मर्द हैं, कोई न कोई कर ही देगा। उन्होंने उसी दिन नौकर का हिसाब कर दिया। अमर दफ्तर से आया तो नौकर को पुकारने लगा। अमर की बहू बोली, 'बाबूजी ने नौकर छुड़ा दिया है।'

'क्यों?'

'कहते हैं खर्च बहुत है।'

यह वार्तालाप बहुत सीधा-सा था, पर जिस टोन में बहू बोली, गजाधर बाबू को खटक गया। उस दिन जी भारी होने के कारण गजाधर बाबू टहलने नहीं गए थे। आलस्य में उठकर बत्ती भी नहीं जलाई। इस बात से बेखबर नरेन्द्र मां से कहने लगा, 'अम्मा, तुम बाबूजी से कहती क्यों नहीं? बैठे-बिठाए कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर बाबूजी यह समझते हैं कि मैं साइकिल पर बोरी रख आटा पिसाने जाऊंगा तो मुझसे यह नहीं होगा।'

'हां, अम्मा!' बसन्ती का स्वर था, ' मैं कालेज भी जाऊं और लौटकर घर में झाड़ू भी लगाऊं यह मेरे बस की बात नहीं है।'

'बूढ़े आदमी हैं', अमर भुनभुनाया, 'चुपचाप पड़े रहें। हर चीज में दखल क्यों देते हैं?'

पत्नी ने बड़े व्यंग्य से कहा, 'और कुछ नहीं सूझा तो तुम्हारी बहू को ही चौके में भेज दिया। वह गई तो पंद्रह दिन का राशन पांच दिन में बनाकर रख दिया।' बहू कुछ कहे, इससे पहले वह चौके में घुस गई। कुछ देर में अपनी कोठरी में आई और बिजली जलाई तो गजाधर बाबू को लेटे देख बड़ी सिटपिटाई। गजाधर बाबू की मुखमुद्रा से वह उनके भावों का अनुमान न लगा सकी। वह चुप, आंखें बंद किए लेटे रहे।

गजाधर बाबू चिट्ठी हाथ में लिए अंदर आए और पत्नी को पुकारा। वह भीगे हाथ आंचल से पोंछती हुई पास आ खड़ी हुई। गजाधर बाबू ने बिना किसी भूमिका के कहा, 'मुझे सेठ रामजीमल की चीनी मिल में नौकरी मिल गई है। खाली बैठे रहने से तो चार पैसे घर में आएं, वही अच्छा है। उन्होंने तो पहले ही कहा था, मैंने ही मना कर दिया था।' फिर कुछ रुककर, जैसे बुझी हुई आग में एक चिनगारी चमक उठे, उन्होंने धीमे स्वर में कहा, 'मैंने सोचा था कि बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद अवकाश पाकर परिवार के साथ रहूंगा। खैर, परसों जाना है। तुम भी चलोगी?'

'मैं?' पत्नी ने सकपकाकर कहा, 'मैं चलूंगी तो यहां क्या होगा इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सयानी लड़की...।'

बात बीच में काट, गजाधर बाबू ने थके, हताश स्वर में कहा, 'ठीक है, तुम यहीं रहो। मैंने तो ऐसे ही कहा था।' और गहरे मौन में डूब गए।

नरेन्द्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बांधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टिन का बक्सा और पतला-सा बिस्तर उस पर रख दिया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिए गजाधर बाबू रिक्शा पर बैठ गए। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली और फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अंदर लौट आए। बहू ने अमर से पूछा, 'सिनेमा ले चलिएगा न?'

बसन्ती ने उछलकर कहा, 'भैया, हमें भी।'

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गई। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लाई और कनस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, 'अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नही है।' ❖

'सहज जिज्ञासा एवं सीखने की प्रवृत्ति बालक में बिल्कुल शुरू से रहती है। अवश्य ही समझदारी के साथ प्रोत्साहन देते रहना चाहिए ताकि वह सक्रिय बनी रहे, विकृत न हो।'

—'जे. कृष्णमूर्ति का शिक्षा-दर्शन' से

तुलसीरमण की कविताएं

•

सपना

चला आता नींद में
एक हंस सपना

भरी दोपहरी कभी
जागते को भी
सुला देता सपना

और फिर
बगुले की तरह
चला जाता हंस

हम बगुले के दुख में
जागते रहते हैं
हंस के लिए

•

काल के जल में

काली चींटियों पर
सफेद छतरियां ताने
कुछ खुंब
हरी घास पर

दूऽर पार तक कोई नहीं
खामोश है हवा
बहुत दिनों बाद निकला
अतिथि सूरज
पृथ्वी के माथे पर चमक रहा

अलग अलग निखरे रंग
एक लय धूप में

तिनका तिनका घास उतर कर
पशु के खुर से बने जलाशय में
तैरने लगीं चींटियां
दोपहर की धूप में

निखरे रंगों के बीच
काल के जल में
तैर रहा जीवन

•

पंडोह

विकास बुद्धि ने
रोक दिया
छल-छलाती निरंतर बहती
नील-श्वेत नदी का रास्ता

बीच में ही टोक दिया
जल का राग

पृथ्वी की धमनी में
जम गया रक्त का थक्का

पाशबद्ध है
मुनि वशिष्ठ की विपाशा

क्रोध में कांप रही
गहरी हरी झील

•

आग

धीमे धीमे सुलगती भीतर
राख ढकी
उपलों की आग

भुरभुरा जाती
सारी देह
आत्मा निःशब्द
चटखती रहती

❖❖

शीलन

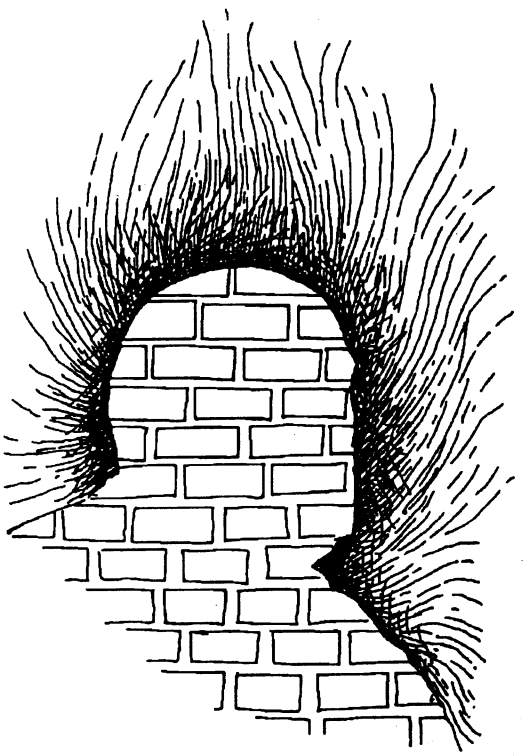

संस्कृति में बहुत-सा आडंबर भी होता है, लेकिन इसका एक बुनियादी अंश है जिसको हम मूल्य कहते हैं। जीवन को स्वस्थ, सुंदर और गतिशील बनाने के जो तत्त्व होते हैं उनको मूल्य माना गया है। मूल्यों के बहुत-सारे सामाजिक और व्यावहारिक रूप हो सकते हैं, लेकिन वास्तव में ये तीन मूल्य हैं। बाह्य स्थिति के साथ सम्यक् संयोग स्थापित करने वाला तत्त्व सौंदर्य है। देह और मन के अंदर कोई अवरोध न रहना स्वास्थ्य है। स्वास्थ्य के होने से बाह्य के साथ संयोग स्थापित करने में और गतिशीलता को क्रियान्वित करने में अवरोध नहीं रह जाता है। तीसरा मूल्य है गतिशीलता, जो मनुष्य की आगे बढ़ने की इच्छा है, यह शारीरिक, मानसिक, आंतरिक, बाह्य—कई स्तरों पर सक्रिय होती है। अंततोगत्वा आगे बढ़ने की इच्छा का संबंध जीवन के विकास की धारा को गति देने से होता है। इसलिए आधुनिक समाज-विज्ञान मूल्यों को जीवन-विकास (इवोल्यूशन) के साथ जोड़ता है। यह गलत नहीं है। मनुष्य का जो व्यवहार जीवन-विकास की धारा का मददगार है, वह मूल्य है, वही सुंदर और नैतिक भी है।

—किशन पटनायक

पुण्य मीमांसा

□ मुनि रमेशकुमार □

किसी व्यक्ति के शरीर में जहर हो, उस व्यक्ति को नीम के पत्ते भी मीठे लगते हैं। वैसे ही मोह-कर्म के उदय से जीव को सांसारिक भोग अमृत के समान लगते हैं। लेकिन वे पौद्गलिक सुख नश्वर होते हैं, बंधनकारक होते हैं।

भारतीय जीवन, आर्य-संस्कृति का प्राणतत्त्व है धर्म। धर्म शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की व्याख्या है—'आत्मशुद्धि साधनं धर्मः' जिस साधन से आत्मा की शुद्धि होती है वह धर्म है। वे साधन अनेक हो सकते हैं, यथा—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि। ये विशुद्ध आत्मिक धर्म के साधन है।

धर्म के मुख्यतः दो प्रकार हैं—संवर धर्म और निर्जरा धर्म। संवर धर्म से नवागंतुक कर्मों का निरोध होता है। निर्जरा से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है। निर्जरा का साधन शुभ योग है। शुभ योग आत्मा का इच्छाकृत व्यापार है और निर्जरा उसकी महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है। यह साध्य-सिद्ध का एक सशक्त आयाम है। शुभ योग के साथ पुण्य का बंध होता है।

पुण्य क्या है? उदीयमान शुभकर्म पुद्गल को पुण्य कहा जाता है। पुण्य के योग से व्यक्ति को सुख का संवेदन होता है। व्यक्ति पुण्य के प्रबल योग से चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव जैसे महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त कर लेता है। शुभ योग का मुख्य कार्य है—निर्जरा और गौण कार्य है—पुण्य का बंध। आत्मा का संपूर्ण शुभ व्यापार जिनेश्वर देव की आज्ञा के भीतर है।

स्थानांग सूत्र में पुण्य के नौ प्रकार निर्दिष्ट हैं—अन्न पुण्य, पान पुण्य, स्थान पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य। ये सारे पुण्योपार्जन के साधन हैं।

नौ प्रकार के पुण्योपार्जन के कारणों की मीमांसा आवश्यक है। अन्न कोई अपने आप में पुण्य नहीं है, वैसे ही पानी, वस्त्र, स्थान, शय्या भी अपने आपमें कोई पुण्य नहीं हैं। ये सभी तो पुण्य बंध के हेतु बनते हैं। यहां पर कारण में कार्य की विवक्षा की गई है। किसी को अन्न आदि देने से ही पुण्य का बंध होता है तो वह कैसे? इस समस्त चर्चा का मर्म यह है कि शुद्ध साधु को प्रासुक और एषणीय आहार देने पर ही मात्र प्रासंगिक रूप से पुण्य का बंध होता है। शुद्ध संयति को दिया जाने वाला दान एकांततः निरवद्य योग है। इसकी विवक्षा करते हुए आचार्य भिक्षु कहते हैं—

'नव प्रकार पुण्य निपजे, ते करणी निरवद जाण।'

पुण्य बंध की समस्त क्रियाओं का संबंध निरवद्य योग के साथ ही जुड़ता है। अन्न, पानी, वस्त्र आदि शुद्ध श्रमण को देने पर ही आगम में भगवान ने पुण्य की क्रिया कहा है। श्रमणोत्तर को देना न तो निरवद्य क्रिया है और न ही पुण्य बंध का हेतु है।

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को छोड़कर शेष सभी पुण्य बंध की प्रवृत्तियों का संबंध पांच महाव्रत-धारी साधु से ही होता है। साधु के अभाव में अन्न, वस्त्रादि दान की निरवद्य प्रवृत्ति संभव नहीं लगती। यद्यपि भाव-शुद्धि के द्वारा इसकी यत्किंचित संपूर्ति की जा सकती है। मन, वचन और शरीर की सावद्य प्रवृत्ति को पुण्य मानें या निरवद्य प्रवृत्ति को? पांच आश्रवों के सेवन को पुण्य मानें या अनाश्रव को? काय पुण्य सर्दी, गर्मी आदि प्रतिकूल परिस्थितियों को सहने से बंधता है या वनस्पति के छेदन-भेदन से? नमस्कार पुण्य सिद्धों और साधुओं को नमस्कार करने से होता है या अन्य किसी को? ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान हमें जयाचार्य कृत प्रश्नोत्तर तत्त्व-बोध में सुंदर ढंग से मिलता है।

उपासकसूत्र में आनन्द श्रावक का प्रसंग आता है। वहां वह बारह व्रतों को स्वीकारते समय अन्य तीर्थिकों को वंदना नहीं करूंगा, अशनादिक नहीं दूंगा—ऐसा अभिग्रह करता है। अन्यतीर्थी को अशनादिक देना और नमस्कार करना निरवद्य योग होता और उससे पुण्य का बंध होता तो आनन्द श्रावक ऐसा अभिग्रह स्वीकार क्यों करते?

आचार्य भिक्षु ने नव पदार्थ में कहा है—पुण्य के निमित्त से जीव को पौद्गलिक सुख मिलता है। वे मोह कर्म के उदय से प्रिय लगते हैं। पुण्य से प्राप्त कामभोग विषतुल्य है। किसी व्यक्ति के शरीर में जहर हो, उस व्यक्ति को नीम के पत्ते भी मीठे लगते हैं। वैसे ही मोह-कर्म के उदय से जीव को सांसारिक भोग अमृत के समान लगते हैं। लेकिन वे पौद्गलिक सुख नश्वर होते हैं, बंधनकारक होते हैं।

'पुन रा सुख है पुदगल तणा,
कामभोग शब्दादिक जाण।
ते मीठा लागै है कर्म तणे वसे,
ग्यांनी तो जाणे जेहर समान।।
जेहर शरीर में त्यां लगे,
मीठा लागे नीव पान।
ज्यूं कर्म उदय हुवे जीव रे जब,
लागे भोग इमरत समान।।

पांच इंद्रियों में दो कामी (कामना करने वाली) इंद्रियां हैं—श्रोत्रेंद्रिय, चक्षुरिंद्रिय और तीन भोगी इंद्रियां हैं—घ्राणेंद्रिय, रसनेंद्रिय और स्पर्शनेंद्रिय। इन पांचों इंद्रियों को मिलाकर कामभोग शब्द बना है। कामभोग सचित्त भी होते हैं, व अचित्त भी होते हैं। एक बार भोगने जैसे भी हो सकते हैं। अनेक बार भोगने योग्य भी होते हैं। कामभोग की साधना-सामग्री की प्राप्ति अनेक समवायों से जुड़ी हुई है। उससे जो साता की अनुभूति होती है, वह पुण्य की प्रकृति है। कामभोगों की प्राप्ति का साधन पुण्य नहीं हैं। साता के संवेदन का साधन पुण्य है।

संसार में दो तत्त्व हैं—एक जीव तत्त्व व दूसरा अजीव तत्त्व। चेतन जीव है, पुद्गल अजीव है। आठ कर्म भी पुद्गल है, जड़ है। चेतन कभी बंधन की इच्छा नहीं करता, फिर भी वह अपने शुभाशुभ कर्मोदय के कारण नए-नए कर्मों को ग्रहण करता रहता है। पुण्य-पाप की अनादि परंपरा से बंधा जीवन चार गतियों में परिभ्रमण करता है। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

'अशुभ कर्म कुशील है, बुरा है और शुभ कर्म सुशील है, अच्छा है—ऐसा जगत मानता है। परंतु जो, प्राणी को संसार में प्रवेश करता है वह शुभ कर्म सुशील-अच्छा कैसे हो सकता है? जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है और सुवर्ण की बेड़ी भी बांधती है, उसी तरह शुभ तथा अशुभ कर्म जीव को बांधते हैं। अतः जीव! तू इन दोनों कुशीलों से प्रीति अथवा संसर्ग मत कर। कुशील के साथ संसर्ग और राग से जीवन की स्वाधीनता का विनाश होता है। जो जीव परमार्थ से दूर हैं वे अज्ञान से पुण्य को अच्छा मान उसकी कामना करते हैं, पर पुण्य संसार-भ्रमण का हेतु है। अतः तू पुण्य कर्म में प्रीति मत कर। यह अवधारणा आचार्य भिक्षु की विचारधारा से संपूर्ण मेल खाती है।

आठ कर्मों में चार कर्म ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—ये एकांत पाप हैं। वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—1. सातावेदनीय, 2. असातावेदनीय। आयुष्य कर्म के दो प्रकार हैं—1. शुभ आयुष्य, 2. अशुभ आयुष्य। नाम कर्म के दो प्रकार हैं—1. शुभ नाम, 2. अशुभ नाम। गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं—1. उच्च गोत्र, 2. नीच गोत्र।

पुण्य-पाप एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। पुण्य तत्त्व से पौद्गलिक सुखों का संवेदन होता है। आत्मा की निरवद्य योग की प्रवृत्ति से शुभ पुद्गलों का बंध होता है। उनके फलानुसार भिन्न-भिन्न नाम हैं। साता-वेदनीय कर्म के उदय से जीव दैहिक सुख प्राप्त करता है। देव, मनुष्य, तिर्यंच के आयुष्य का जो बंध होता है वह पुण्य प्रकृति के कारण होता है। जो कर्म शुभ नाम के रूप में उदय में आते हैं, उन्हें शुभनाम कर्म कहते हैं। उनके 37 भेद हैं। जिन कर्म पुद्गलों से जीव को उच्च पद आदि प्राप्त होते हैं उन्हें उच्च गोत्र कहते हैं।

पुण्य के उदय से जो सुख प्राप्त होते हैं वे पौद्गलिक हैं, लौकिक हैं। मोक्ष के सुखों की तुलना लौकिक सुखों से नहीं हो सकती। मोक्ष के सुख आत्मिक होने से अनुपम हैं। नव पदार्थ में कहा है—

'पुद्गलिक सुख है पुन तणा,
ते तो रोगीला सुख ताय।
आतमीक सुख है मुगत ना,
त्यां ने तो ओपमा नहीं काय।।
पाव रोगी हुवे तेहने,
खाज मीठी लागे अतंत।
ज्यूं पुन उदे हुआ जीव ने,
सबदादिक सर्वगमता लागंत।।
आतमीक सुख है सासता,
त्यां सुखां रा नहीं कोई पार।
ते सुख सदाकाल सासता,
ते सुख रहे एक धार।।'

पौद्गलिक सुखों से आत्मिक सुखों की तुलना नहीं हो सकती। जहां शरीर में खाज आती है वहां खुजलाना प्रिय लगता है। वैसे ही मोह के उदय से जीव को पांचों इंद्रियों के

शब्दादिक सुख सुखकर लगते हैं। भौतिक सुख अशाश्वत हैं और आत्मिक सुख शाश्वत हैं। आत्मिक सुख का कभी अंत नहीं होता। ये तीनों काल में एक समान रहते हैं। अतः यह स्वयंसिद्ध है कि पौद्गलिक सुख से मात्र सुखाभास होता है। मोक्ष सुख लोकोत्तर सुख है।

पुण्य की वांछा नहीं करनी चाहिए। भगवान महावीर ने कहा है—तपस्या इस लोक व परलोक के लिए नहीं करनी चाहिए। कीर्ति, श्लाघा, प्रशंसा की इच्छा से नहीं करनी चाहिए। गीता में कहा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।'

'पुण्य की इच्छा करना पाप है'—इस संदर्भ में आचार्य भिक्षु का विचार बहुत स्पष्ट है। उन्होंने लिखा है—

'जिण पुण्य तणी वांछा करी,
वांछ्या काम ने भोग।।
संसार वधे काम भोग स्यूं,
षामै जनम मरण नै शोक मोह।।' ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

बालकथा

बुद्धू से बुद्धिमान

□ सन्तराम वत्स्य □

ये और इसी तरह की अनेक बातें उसके मन में आईं। उसने अपने सामान की गठरी बांधी, गुरुजी के चरण छुए, साथियों से गले मिला और भारी मन से वहां से विदा हुआ। मारे शर्म के वह धरती में गड़ा जा रहा था। उसके पांव मन-मन के भारी हो रहे थे और उठते ही नहीं थे। वह उदास, अनमना-सा चल रहा था।

वरदराज नाम का एक बालक था। जब वह पांच वर्ष का हो गया तो पिता ने उसे पढ़ने के लिए गुरुजी के पास भेज दिया। उन गुरुजी के पास और भी कितने ही बालक पढ़ते थे। वरदराज भी पढ़ने लगा। उन दिनों गुरुओं की सेवा में रहकर ही विद्या सीखने का रिवाज था। आजकल की तरह पाठशालाएं नहीं थीं।

वरदराज एकदम बुद्धू था। उसे कुछ भी याद नहीं रहता था। वह पढ़ने-लिखने में एकदम सुस्त था। उसके सहपाठी आगे बढ़ते गए और वह एक साल की पढ़ाई में तीन-तीन साल लगाता रहा। गुरुजी उसे अलग से पढ़ाते-समझाते पर सब बेकार। उसकी समझ में कुछ नहीं आता था। वह खाता खूब था और सोता भी सबसे अधिक था। जब तक उसे कोई जगाता नहीं था, वह नहीं जागता था।

गुरुजी ने उसे बुद्धि बढ़ाने की दवाई खाने को दी, पर उससे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। वे कभी उसे प्यार से समझाते, कभी झिड़क देते और कभी दंड भी देते पर उस पर किसी भी बात का कोई असर नहीं होता था।

सहपाठी उसको छेड़ते। उसका मजाक उड़ाते। कोई बुद्धू कहता, तो कोई मूर्खराज। कोई कहता कि इसका दिमाग पोला है। कोई कहता कि इसके दिमाग में भूसा भरा हुआ है। एक लड़के ने उसका नाम बिगाड़कर, वरदराज की जगह उसे बरधराज कहना शुरू कर दिया। बरधराज का अर्थ है, 'बैलों का राजा'। बुद्धू की तुलना बैल से अब भी की जाती है। 'बछिया का ताऊ' मुहावरा मूर्ख आदमी के लिए ही प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ 'बैल' है।

वरदराज को पढ़ते पांच साल हो गए थे पर वह अभी कुछ सीख-पढ़ नहीं सका था। उसके साथ जो पढ़ने आए थे वे तो आगे बढ़ ही गए, जो बाद में आए थे, वे भी उसे पीछे छोड़कर आगे निकल गए।

वरदराज वैसे स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था। देखने में भी अच्छा था। पर जहां तक पढ़ाई का संबंध था, एकदम फिसड्डी था। दूसरे छात्र कहते, 'जब ब्रह्मा बुद्धि बांट रहे थे, यह सोया हुआ था। इसलिए इसे बुद्धि नहीं मिली।' इसी तरह की कितनी ही बातें उसे सुनने को मिलती थीं।

एक दिन गुरुजी ने निराश होकर कहा. 'बेटा वरदराज! मैं समझता हूं कि पढ़ना-लिखना तुम्हारे बस का नहीं है। मैंने कितना प्रयत्न किया, तुम्हें कितना समझाया, अलग से भी पढ़ाया पर कुछ लाभ नहीं हुआ। लगता है, तुम्हारे भाग्य में विद्या नहीं है। इससे तो यही अच्छा है कि पढ़ना छोड़ दो। घर जाओ और घर का काम-काज करो।'

वह ब्राह्मण का बालक था और उसके पिता बड़े विद्वान थे। उन दिनों ब्राह्मणों का काम ही विद्या पढ़ना और पढ़ाना था। पुरोहित का काम करने के लिए भी विद्वान होना आवश्यक था। अनपढ़ों को तब कोई न पूछता था, न पूजता था।

वरदराज की आंखों के आगे अंधेरा छा गया। उसे अपना भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगा। घर जाकर पिताजी को वह क्या मुंह दिखाएगा। कैसे कहेगा कि गुरुजी ने उसे बुद्धू होने के कारण पढ़ाने से मना कर दिया। लोग क्या कहेंगे कि पिता तो माना हुआ विद्वान और बेटा निरक्षर बुद्धू!

ये और इसी तरह की अनेक बातें उसके मन में आईं। उसने अपने सामान की गठरी बांधी, गुरुजी के चरण छुए, साथियों से गले मिला और भारी मन से वहां से विदा हुआ। मारे शर्म के वह धरती में गड़ा जा रहा था। उसके पांव मन-मन के भारी हो रहे थे और उठते ही नहीं थे। वह उदास, अनमना-सा चल रहा था। यों घर वापस जाने का उसका जरा भी मन नहीं था। पर और कोई ठौर-ठिकाना भी नहीं था। कहां जाए, क्या करे, उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

वह सवेरे चला था और दोपहर हो गई थी। रास्ते में खाने के लिए थोड़ा-सा सत्तू गुरुजी ने उसे दिया था। उसे भूख भी लग आई थी और प्यास भी। पर मन कुछ खाने को नहीं था।

रास्ते में एक कुआं दिखाई दिया। वह सुस्ताने के लिए कुएं के पास जा बैठा।

वह खिन्न और उदास तो था ही, अपना जीवन उसे अंधकारमय और व्यर्थ लग रहा था। उसने सोचा, 'इस जीने से तो मर जाना ही अच्छा।' यही सोचकर वह डूब मरने के लिए कुएं की ओर बढ़ा। उसने चारों ओर देखा कि आस-पास कोई देख तो नहीं रहा है? कोई पानी भरने तो नहीं आ रहा है? फिर उसने झांककर कुएं की गहराई की थाह ली। यह देखते-भालते उसकी नजर कुएं की जगत पर गई। जगत पर पानी खींचने की रस्सी की रगड़ से जगह-जगह पत्थर घिस गए थे और निशान पड़े हुए थे। चबूतरे पर घड़ों और गागरों को रखने से पत्थर में घड़ों के निचले भागों जैसे गड्ढे बने हुए थे। वरदराज के दिमाग में बिजली-सी कौंध गई। उसने सोचा, 'बार-बार की रगड़ से कोमल रेशे से बनी रस्सी पत्थर को काट सकती है और मिट्टी के घड़े, जो जरा-सी चोट लगने से टूट जाते हैं, उनसे पक्के पत्थरों पर गड्ढे बन सकते हैं तो क्या लगातार परिश्रम करने से मुझे पढ़ना-लिखना नहीं आ सकता?'

कुछ क्षण पहले के डूब मरने के विचार को उसने छोड़ दिया। वह अपने आप से ही बोल उठा, 'मैं कठिन परिश्रम करूंगा। फिर देखता हूं मुझे विद्या कैसे नहीं आती है?' उसके स्वर में आत्मविश्वास की दृढ़ता थी, कुछ कर दिखाने का संकल्प था।

उसने कुएं पर रखे डोल से पानी निकाला। हाथ-मुंह धोए और सत्तू खाकर भरपेट पानी पिया। वह घर जाने की अपेक्षा, फिर पीछे लौट पड़ा। अब की बार उसके कदम पहले की तरह भारी नहीं थे। वह तेजी से चल रहा था। उसकी उदासी दूर हो चुकी थी। अब तो वह दूसरी ही तरह का वरदराज लग रहा था।

वह दिन अस्त होने से पहले ही गुरुजी के घर जा पहुंचा। उसने गुरुजी के चरण छूकर प्रणाम किया। उसके साथियों को जब पता लगा कि वह फिर आ गया है तो वे तरह-तरह की बातें बनाने लगे।

गुरुजी उसे देखकर बोले, 'बेटा वरदराज! तुम घर नहीं गए क्या?'

वह नम्रतापूर्वक बोला, 'गया था गुरुजी, पर आधे रास्ते से लौट आया हूं। अब मेरी आंखें खुल गई हैं। मैंने निश्चय किया है कि मैं पूरी लगन और परिश्रम से विद्याभ्यास करूंगा। आज से आपको कभी कुछ कहने का अवसर नहीं दूंगा।'

गुरुजी का मन पसीज गया। बोले, 'ठीक है। कुछ दिन और देख लेता हूं। तुम जो कुछ कह रहे हो, उसे कर दिखाओगे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।'

वरदराज की पढ़ाई प्रारंभ हुई। अब तो उसकी भूख और नींद पता नहीं कहां भाग गई। वह रात को देर तक पढ़ता रहता और प्रातः भी सबसे पहले उठ जाता। दिन में भी एक क्षण बेकार नहीं गंवाता था।

फिर क्या था! जो पाठ याद करना उसे ऊंचे पहाड़ पर चढ़ने की तरह कठिन प्रतीत होता था, वही अब आसान हो गया। उसने अगली-पिछली सारी कसर अपनी मेहनत से पूरी कर दी।

गुरुजी और दूसरे छात्र इस परिवर्तन को देखकर आश्चर्य-चकित रह गए। अब उन्होंने वरदराज का मजाक उड़ाना बंद कर दिया। कुछ महीनों बाद गुरुजी उसकी प्रशंसा भी करने लगे।

अब वरदराज की गिनती प्रतिभाशाली छात्रों में होने लगी। कल का बुद्धू वरदराज अब बुद्धिमान बन

गया। यह चमत्कार न तो किसी ओषधि से हुआ था और न ही किसी जंत्र-मंत्र से। यह लगन और कठोर परिश्रम का चमत्कार था।

बाद में यही वरदराज प्रसिद्ध विद्वान बना। देवगिरि के राजा महादेव की सभा में वह महापंडित के पद पर सुशोभित हुआ। संस्कृत में पाणिनि का व्याकरण प्रसिद्ध है। यह कठिन भी है। इसे पढ़ने में विद्यार्थियों को बहुत परिश्रम करना पड़ता था। वरदराज को भी पाणिनि-व्याकरण को समझने में बड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ था। विद्यार्थियों की इस कठिनाई को दूर करने के लिए पंडित वरदराज ने 'लघु सिद्धांत कौमुदी' की रचना की। इसमें पाणिनि के व्याकरण का संक्षिप्त सारांश दिया गया है। इन्हीं वरदराज ने 'मुग्धबोध' नामक संस्कृत के सरल व्याकरण की रचना भी की थी। इन्हीं वरदराज का दूसरा नाम बोपदेव भी है।

वरदराज के जीवन की इस घटना से एक लोकोक्ति ही प्रसिद्ध हो गई है। यह लोकोक्ति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। छात्रों को तो इसे याद ही कर लेना चाहिए। उनके लिए यह पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकती है :

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जावत ते, सिल पर परत निसान।।

❖

साधन-साध्य....पृष्ठ 31 का शेष

प्रवचन सुनाने के लिए ले चलेंगे',—समाज के लोग बोले। अधिकारियों ने कहा—'वह तो ठीक है, पर कत्लखाने बंद करने से जो नुकसान होगा, उसकी भरपाई कैसे होगी? आप हमें कितने रुपए देंगे?' समाज के लोग बोले—'यह धार्मिक मामला है। इससे रुपए पैसे का क्या संबंध है?' अधिकारियों ने कहा—'यहां प्रतिवर्ष रुपए दिए जाते हैं और हम कत्लखाने बंद रखते हैं।' समाज के लोग बोले—'हमारे गुरु ने कहा है कि रुपए का प्रलोभन देकर नहीं, हृदय-परिवर्तन के द्वारा हिंसा छुड़ानी है। हम आपको रुपए देंगे तो आप एक दिन अधिक पशु खरीद कर उनकी हत्या करेंगे। यह रास्ता धर्म का नहीं है।'

अधिकारियों के लिए यह नई बात थी। लोगों के समझाने से उनके मन बदले। वे कत्लखाने बंद रखने के लिए राजी हो गए। दूसरे दिन वे प्रवचन सुनने आए। उन्होंने लंबे समय तक प्रवचन सुना। उनमें जो प्रमुख बूचर था, वह बोला—'आचार्यजी! हमारे यहां लोग आते हैं, वे रुपयों की थैलियां देकर बकरे बचाते हैं। आज हमने नई बात सुनी है। मैं आपको साक्षी करके संकल्प करता हूं कि अब कभी पशुओं की हत्या नहीं करूंगा।'

किसी भी व्यक्ति को समझाकर हिंसा से विरत करना धर्म का रास्ता है। सब हिंसक एक साथ हिंसा छोड़ दें, यह न तो कभी हुआ है और न होने का है। आज तक अनंत तीर्थंकर हो गए। उनके युग में भी हिंसा होती रही है। किसी भी तीर्थंकर ने बलप्रयोग की बात नहीं कही। उनका एक ही निर्देश रहा कि अपने मन को मजबूत रखो और सामने वाले के मन को जीतो। संभव है, वह बदल जाए। न बदले तो उसकी उपेक्षा करो, पर बलप्रयोग मत करो। बलप्रयोग अशुद्ध साधन है। धर्म या अहिंसा के क्षेत्र में इसका प्रयोग वर्जित है।

विरोध, संघर्ष और शांति

हिंसा-अहिंसा, धर्म-पाप आदि के संदर्भ में आचार्य भिक्षु के मंतव्यों का खुलकर विरोध हुआ। लगभग दो शताब्दियां इस संघर्ष में बीत गईं। हमने अपने युग में भी ऐसे विरोध का अनेक बार मुकाबला किया है। हम पहली बार दिल्ली गए। वहां चांदनी चौक में तेरापंथ के विरोध में बड़े-बड़े पोस्टर चिपकाए गए। 'थली का विचित्र पंथ : तेरापंथ', 'किसी जीव को बचाना पाप, भूखे को रोटी खिलाना पाप', 'प्यासे को पानी पिलाना पाप' आदि शीर्षकों में तेरापंथ का उपहास किया गया। पर हमने अपने दिल-दिमाग को ठंडा रखा। 'जो हमारा हो विरोध : हम उसे समझें विनोद'—ऐसी मानसिकता का निर्माण कर संघर्ष के बीच खड़े रहे। जिन लोगों ने तत्त्व को समझना चाहा, उन्हें समझाने का प्रयास किया। कुछ लोग धीरे-धीरे समझे।

साध्य-साधन की मीमांसा में आचार्य भिक्षु के विचार इतने स्पष्ट और यौक्तिक हैं कि पूर्वाग्रह न हो तो कहीं उलझन को अवकाश ही नहीं है। उनकी समग्र अवधारणा का सार यह है—अध्यात्म की भाषा में मनुष्य का साध्य है जीवनमुक्ति और उसका साधन है संयम। संयम और धर्म एक ही है। हिंसा अधर्म है, असंयम है। उसके द्वारा जीवनमुक्ति साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा भी हिंसा है। इसी प्रकार बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों की हिंसा धर्म नहीं हो सकती। आवश्यक हिंसा भी हिंसा है। बलप्रयोग हिंसा है, हृदय-परिवर्तन अहिंसा है। धर्म की आराधना में हिंसा और परिग्रह को कोई स्थान नहीं है। इनके द्वारा जीवनमुक्ति का साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के फरवरी, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के फरवरी अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 15 जून, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम जुलाई, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

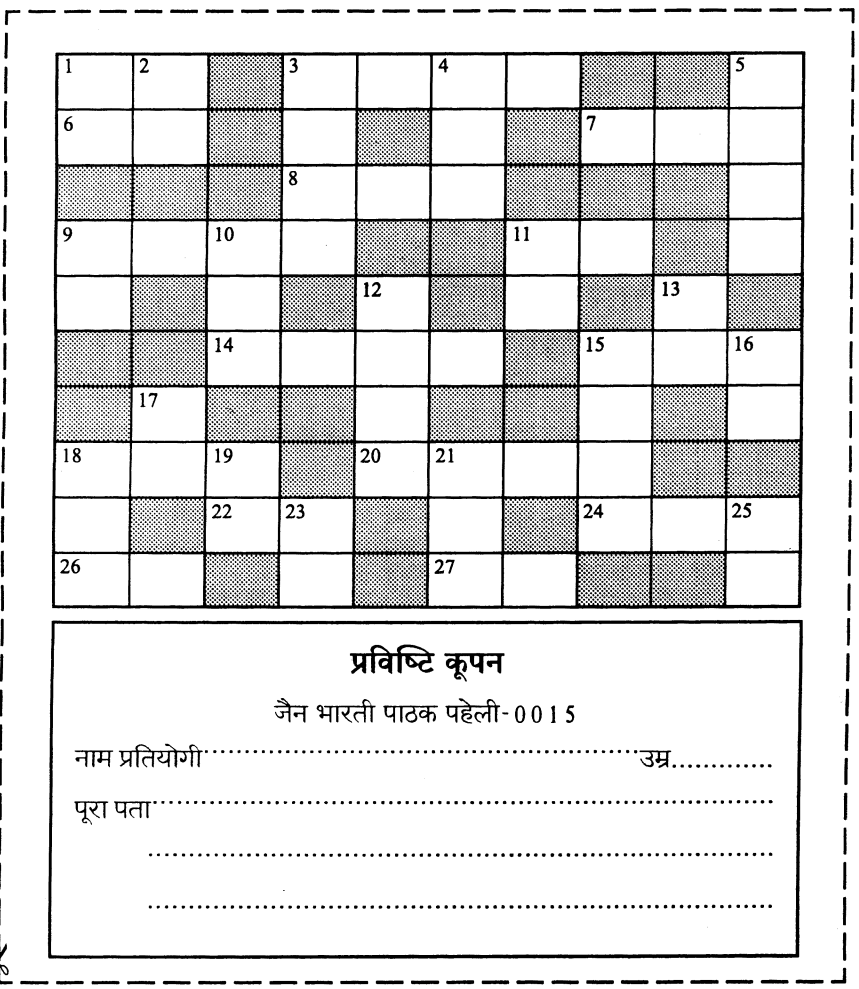

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0015

नाम प्रतियोगी.....उम्र.....

पूरा पता.....

.....

.....

बाएं से दाएं

1. कोई बेहतर किस्म का.....विकसित हो सके [2]
3. उसके मूल्य को देखते हुए.....मिलेगा [4]
6. रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि,.....शुक्र [2]
7. 17वीं शताब्दी के अंत में बहुत बड़ी.....में [3]
8. मुनि जीवन का सफलता से.....करने के लिए कुछ [3]
9. या उस.....से फूट रहा है [4]
11. अब उस अचल के.....-गिर्द [2]
14. भाव, विचार और.....हमारे जीवन में मूर्त बनने लग जाते हैं [4]
15. अधिक से अधिक समय ज्ञानार्जन, अध्ययन, चिंतन व..... में लगाना चाहिए। [3]
18. वस्तुओं के बेशुमार.....और शेष लोगों को [3]
20. होमियोपैथी के प्रवर्तक डॉ.....ने कहा था [4]
22. पेट में.....मूत्र और वायु का दबाव [2]
24. इसके लिए समाज को.....भी देनी होगी। [3]
26. ....., अध्ययन और दान। [2]
27. असंयमी गृहस्थ दूसरे जीवों का.....करता है [2]

ऊपर से नीचे

1. .....और हमारा सुख। [2]
2. मन में शर्म या.....की अनुभूति नहीं है [2]
3. अचेल एवं.....होते हैं [4]
4. छोटे बड़े सभी पापों का.....करता है [3]
5. इसका अभिप्राय है—रूपांतरण, ... [4]
9. साधना के अंगों को उत्तर.....माना जाता है [2]
10. महात्मा गांधी का यह.....बिल्कुल व्यावहारिक है [3]
11. अपने टखने छूकर, कह रही है,..... [2]
12. .....बढ़ा। राजा तक यह बात गई [4]
13. .....मनुष्य पाता है कि उसके समझदारी के पैर [2]
15. मन की.....से होने वाली बुरी आदतों को छोड़ना है [4]
16. युवती के सर्वांगीण विकास में जादू की तरह.....जीवन का प्रभाव छोड़ते हैं [2]
17. .....वह भी कम नहीं [2]
18. मुझे इसमें कोई.....नहीं [3]
19. उसमें पहला अंग.....है [2]
21. रात्रि के.....वातावरण में जोर से किसी के गिर पड़ने की [3]
23. हम केवल एक.....का निर्धारण करते हैं [2]
25. आज की पीढ़ी के.....और मस्तिष्क पर [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0013

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 ज	न	2 क		3 क	प	4 ट		5 आ	6 ग
ग		ल		र		7 प	र	वा	ह
8 त	9 र	ह		10 ना	11 ह	क		12 ज	न
	ही		13 अ		त		14 अ		
15 स	म	भा	व		16 प्र	व	ह	मा	न
ह			17 स	मू	ह		सा		
18 क	ह	19 क	र		20 त	21 र	स		22 का
र		र		23 रु		सा		24 ना	म
	25 म	त	वा	द		26 य	का	य	क
	27 त	ब		28 न	वी	न		29 क	र

प्रथम चयनित विजेता—प्रभा जतनराज सुराणा, औरंगाबाद

अन्य दस चयनित विजेता

1. बिमला गादिया, चंगलपेट (तमिलनाडु)
2. रितिका जैन, जयपुर
3. प्रियंका सुखानी, बीकानेर
4. जीतमल नाहटा, कोलकाता
5. कान्ता ललित घोका, औरंगाबाद
6. अशोक चौरड़िया, बुहारी (सूरत)
7. प्रसन्नमल गादिया, चंगलपेट (तमिलनाडु)
8. भारती डागा, इरोड़
9. पंकज बाफणा, सिकन्दराबाद
10. हितेश भंडारी, इरोड़

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

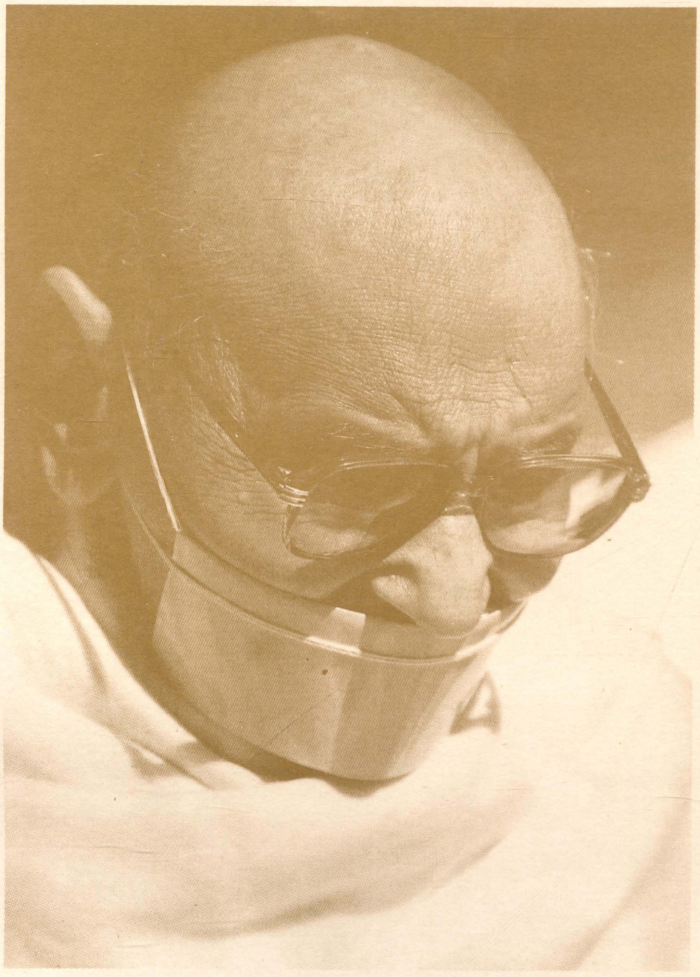

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, मई, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर/11/48/2000

कोऽहं से सोऽहं की परिणति में पदन्यासी है

दीक्षार्थिनी सन्तोष (सारिका) छाजेड़

परिचय बिंदु

जन्म : 22 नवंबर, 1980

दादाजी : स्व. दीपचन्दजी छाजेड़

पिताश्री : श्री वृद्धिचन्द छाजेड़

मातुश्री : श्रीमती विमला देवी छाजेड़

अध्ययन : B.A. II Year में अध्ययनरत

संस्था प्रवेश : 11 सितंबर, 1997 (विकास महोत्सव)

दीक्षा : 29 अप्रैल, 2001 श्रीडूंगरगढ़ में

दीक्षा-संस्कार की शुभ वेला पर शुभाशीर्वाद

शुभकरण, कमलकुमार, किशनकुमार, प्रकाशचन्द्र, संजयकुमार नवलखा

गोरज्यादेवी, विनीता, कुसुम, दुर्गा, मधु नवलखा

श्रीडूंगरगढ़, सिलीगुड़ी, दार्जिलिंग, लुधियाना

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।